रवीन्द्रनाथ के नाटक

(प्रथम खण्ड)

रवीन्द्रनाथ के नाटक

(प्रथम खण्ड)

'विसर्जन', 'चित्रांगदा' और 'चिरकुमार सभा'

अनुवादक :

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

हंसकुमार तिवारी

भारतभूषण अग्रवाल

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली



Ravindranath ke Natak (Volume I) : Hindi translation by P.C. Ojha 'Mukta', Hans Kumar Tiwari and B.B. Agarwal of Rabindranath Tagore's Bengali plays *Visarjan, Chitrangada and Chirakumar Sabha*. Sahitya Akademi, New Delhi (1966) Price Rs. 8.00

विश्वभारती प्रकाशन विभाग के सौजन्य से
इस संस्करण का प्रकाशन

प्रथम संस्करण . १९६६

प्राप्ति-स्थान :
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

मुद्रक :
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

मूल्य : आठ रुपए

प्रस्तावना

१

संख्या और रूप की विविधता की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ के नाटकों की संक्या कम नही है। सख्या और श्रेणी-वैचित्र्य के मापदण्ड के आधार पर विचार करने से उनके काव्य के उपरान्त ही नाटको को स्थान देना पड़ता है। उनकी नाटक-रचना के धारावाहिक इतिहास का अनुसरण करने पर हम देखते है कि किशोरावस्था से लेकर जीवन के आखिरी दिन तक नाटक-रचना तथा नाटक-प्रयोजना मे उनका उत्साह बराबर बना रहा। रचना से पहले है प्रयोजना तथा अभिनय। रवीन्द्रनाथ के नाटक लिखना प्रारम्भ करने से पहले उनके अन्यतम अग्रज ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने नाटक लिखना प्रारम्भ कर दिया था, घर में उन सब नाटको का बीच-बीच में अभिनय भी चलता रहा; घर से बाहर पेशेवर रगमंच पर अभिनीत उनके नाटको से उनकी ख्याति बढ़ चली। और उनसे भी पहले रवीन्द्रनाथ के ताऊ जी के बड़े लड़के गणेन्द्रनाथ, गुणेन्द्रनाथ आदि नाटक-प्रेमी रामनारायण से नाटक लिखवाकर बड़े प्रेम से घर मे उनका अभिनय करवा रहे थे। इस प्रकार हम देखते है कि बालक रवीन्द्रनाथ नाटक-रचना तथा प्रयोजना के वातावरण के बीच पले हैं। साहित्य के विषय मे सचेतन इस प्रकार का यह बालक पहले दर्शक के रूप मे, फिर अभिनेता के रूप मे और अन्त मे लेखक के रूप मे नाटक की ओर आकृष्ट होगा यह सहज ही समझ में आ जाता है। हुआ भी यही। केवल-मात्र दर्शक की भूमिका जब खतम हो गई, तब ज्योतिरिन्द्रनाथ के नाटकों मे दो-एक गीत, दो-एक सवाद जोड़ना उन्होने प्रारम्भ कर दिया; उन्हीके नाटकों मे भूमिका ग्रहण करके वे दर्शकों के सम्मुख आत्म-प्रकाश करने लगे। 'जीवन-स्मृति' ग्रथ मे इन सब विवरणो का आभास मिलता है। किन्तु इसी बीच अर्थात् इस वातावरण की प्रेरणा से वे कब प्रथम बार नाटक-रचना मे प्रवृत्त हुए यह बात जानने का कौतूहल बहुत ही स्वाभाविक है। 'जीवन-स्मृति' से ज्ञात होता है कि शान्तिनिकेतन के धूप से अभिषिक्त मैदान मे बैठकर बालक कवि ने 'पृथ्वीराज-पराजय' नामक एक रौद्र रसात्मक नाटक लिखा था। यह नाटक बाद में

उपलब्ध नही रहा। रवीन्द्र के जीवनीकार प्रभातकुमार मुखोपाध्याय का अनुमान है कि परवर्ती युग मे रचित 'रुद्रचण्ड-नाटक' 'पृथ्वीराज-पराजय' का रूपान्तर-मात्र है। इस लुप्त उदाहरण को छोड़ देने पर 'वाल्मीकि प्रतिभा' नामक गीति-नाटक को उनकी प्रथम नाटक-रचना की प्रचेष्टा कहा जा सकता है। पहले जिस घरेलू वातावरण का उल्लेख किया गया है 'वाल्मीकि-प्रतिभा' के साथ उसका सम्बन्ध है। 'विद्वज्जन-समागम' नाम की एक सभा बीच-बीच मे जोडासाँको की ठाकुर हवेली में बैठती थी। उसी सभा के मनोरजन के हेतु इस चिरसरस गीति-नाट्य की रचना हुई थी। रवीन्द्रनाथ के इसके प्रधान कारीगर होने पर भी विहारीलाल, ज्योतिरिन्द्रनाथ तथा अक्षय चौधुरी के हाथ का काम इस रचना मे मिल जाता है। उस समय के लिखे हुए अधिकाश नाट्यकारो के अधिकाश नाटक कव के सूखकर रस-विहीन हो विदा ले चुके हैं, किन्तु वीस साल के युवक द्वारा रचित यह नाटक अव भी अम्लान है। जव भी इसका अभिनय होता है दर्शको की कमी नही होती।

मधुसूदन दत्त ने प्रथम वँगला-काव्य की रचना करके अपने वन्धु को लिखा था कि शेर ने रक्त का स्वाद पा लिया है अव भला छुटकारा कहाँ ? प्रथम नाटक की रचना के वाद रवीन्द्रनाथ की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की हुई। कुछ ही वर्षो के भीतर 'रुद्रचण्ड', कालमृगया', 'प्रकृतिर प्रतिशोध', 'नलिनी' एव 'मायार खेला' उन्होने लिख डाले। 'रुद्रचड' नाटक का नायक रुद्रचड दस्यु है। नागरिक सभ्यता और राजपद के विरुद्ध उसका निदारुण विक्षोभ नाटक मे प्रकट हुआ है। नाटक मे दो चरित्र और है—रुद्रचण्ड की वालिका कन्या अमिया तथा चाँद कवि। इस नाटक को यदि हम स्मरण न रख सकें तो भी कोई हानि नही—किन्तु इस वालिका को और इस कवि को भूलने से काम नही चलेगा। ये दोनो परवर्ती नाटको मे नाना नामो से और आखिरकार सव नामो मे रूपान्तरित होकर समाविष्ट होते चले गए है।

'कालमृगया' नाटक परवर्ती युग मे 'वाल्मीकि-प्रतिभा' के साथ युक्त हो गया है।

'मायार खेला' गीति-नाट्य है। यद्यपि 'वाल्मीकि प्रतिभा' और इसमे प्रभेद इतना ही है कि पूर्वोक्त मे तो घटना-विन्यास तथा चरित्र-सृष्टि पर अधिक जोर दिया गया है, पर 'मायार खेला' मे वह चेष्टा नही की गई है—सुर के धागे मे हृदयावेग को पिरो देना ही इसका उद्देश्य रहा है।

रचना की दृष्टि से 'प्रकृतिर प्रतिशोध' अपक्व होने पर भी यहाँ सवसे

पहली वार रवीन्द्रनाथ ने अपने जीवन-तत्त्व को प्रकाशित करने की चेष्टा की है। 'प्रकृतिर प्रतिशोध' की वालिका 'रुद्रचड' की अमिया का रूपान्तर है।

यहाँ आकर रवीन्द्रनाथ के जीवन का नाटक-रचना मे शिक्षा-प्राप्त करने का यह पर्व खत्म होता है। नाटकीय गति, घटना-विन्यास तथा चरित्र-परिकल्पना, सुर का नाटकीय भावप्रकाश के उपाय रूप मे नियोग, यहाँ तक कि वनदेवियो तथा मायाकुमारियो के गमनागमन मे नृत्य का आभास, सभी कुछ इन नाटको मे प्राप्त हो जाता है। परवर्ती युग के विभिन्न प्रकार के नाटकों मे इन समस्त गुणो का विकास तथा परिणति देखने को मिल जायगी, इसीलिए इस समय को मैंने शिक्षा प्राप्त करने का पर्व कहा है।

२

'मायार खेला' रचना के कुछ समय वाद ही प्रकाशित 'राजा ओ रानी', 'विसर्जन' तथा 'चित्राङ्गदा' में रवीन्द्रनाथ की नाटक-लेखनी ने मानो पूर्ण शक्ति प्राप्त कर ली। 'चित्राङ्गदा' की आलोचना को यथास्थान के लिए स्थगित करके वाकी दो के संवध मे हम अपना वक्तव्य पहले कह लेते है। 'राजा ओ रानी' और 'विसर्जन' पाँच अंक के शेक्सपियरीय ढग के त्रासदी नाटक है। 'विसर्जन' पूर्वतन उपन्यास 'राजर्पि' के कुछ अशो का नाट्य-कृत रूप है। वहुत-से लोग 'विसर्जन' को रवीन्द्रनाथ का श्रेष्ठ त्रासदी नाटक समझते है। परन्तु मेरी धारणा दूसरे ढग की है। थोड़ी-वहुत तकनीक की त्रुटि रहने पर भी विशुद्ध मानव-रस के प्राचुर्य के कारण 'राजा ओ रानी' मुझे श्रेष्ठतर लगता है। रवीन्द्रनाथ ने परवर्ती युग मे, काफी समय वीत जाने पर तकनीकी त्रुटियो को सशोधित कर लेने के उद्देश्य से 'तपती' नाटक लिखा था। हम लोगो को नवीन नाटक अवश्य मिला—किन्तु 'राजा ओ रानी' को श्रेष्ठतर रूप मिला या नही, इसमे सन्देह है।

इस पर्व मे कवि ने तीन प्रहसनो की रचना की थी। उनमे 'प्रजापतिर निर्बन्ध' ने 'चिरकुमार सभा' नाम से परवर्ती युग मे जनप्रियता अर्जित की है। साधारण-जनो के विचार मे यही उनका श्रेष्ठ प्रहसन है। मेरी व्यक्तिगत रुचि 'वैकुण्ठेर खाता' के प्रति है। इसकी रस-परिधि संकीर्ण किन्तु गंभीर है; इसके पात्र सख्या मे थोड़े होने पर भी सुस्पष्ट एवं सजीव है; इसकी हँसी निरन्तर अश्रु के साथ लगकर चलती हुई अन्तिम दृश्य मे जिस अपरूप प्रहसन की सृष्टि करती है उसमे

हास्य और आँखो के पानी ने हाथ मिलाया है। वहुजनों के अभिनन्दन से वंचित यह प्रहसन रवीन्द्रनाथ की एक निर्दोप सृष्टि है।

इस पर्व के अन्तर्गत रवीन्द्रनाथ ने एक और श्रेणी के नाटको की रचना की, जिन्हे काव्य-नाटय कहा जा सकता है। इन रचनाओ मे कवि की लेखनी और नाट्यकार की लेखनी एकत्र हो गई है, यद्यपि इन नाटको का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ कवि का दायित्व सोलहों आने स्वीकृत होने पर नाट्यकार के दायित्व को हल्का वना दिया गया है। इसलिए वहुत-से लोग इनको नाट्य-काव्य कहना चाहते है, अर्थात् उन लोगो के मतानुसार इन नाटको का वास्तविक स्थान काव्य-क्षेत्र मे है। यह वात यथार्थ नही ज्ञात होती, इनमे काव्य के गुण अधिक होने पर भी इनका ठाट नाटक का है—और नाटकीय परिणति का अभाव भी इन नाटको मे नही है। 'गान्धारीर आवेदन', 'कर्णकुन्ती सवाद', 'नरकवास', 'विदाय अभिशाप' प्रभृति रचनाओ को अलिखित पचाग ट्रैजेडी के आखिरी अक के रूप मे देखने की चेष्टा करने पर इनका यथार्थ रूप तया रस का आवेदन स्पष्ट हो जाता है।

'सती' तया 'मालिनी' मे नाटक का रूप अपेक्षाकृत स्पष्ट है, यद्यपि इनकी भी प्रधान सम्पदा काव्य है।

'लक्ष्मीर परीक्षा' एक सार्थक परीक्षा है। 'क्षणिका' काव्य मे कथ्य भाषा के द्वारा कवि जो काम करवा लेना चाहते थे—उसी काम को सार्थकतर ढग से उन्होने इस नाटक में करवा लिया है।

३

इसी समय रवीन्द्रनाथ के अध्यात्म-जीवन मे एक महत् परिवर्तन प्रारम्भ हो गया था—और यह स्वाभाविक था कि इसकी छाप उनकी सव प्रकार की रचनाओ पर पडती, यहाँ तक कि नाटको पर भी। मानव-जीवन मे ऋतु-क्रम का प्रभाव तथा प्रतिक्रिया इस वार उनके नाटको का उपादान वन वैठी और 'शारदोत्सव', 'राजा', 'अचलायतन', 'फाल्गुनी' प्रभृति नाटको को जन्म मिला। घर के उत्सव आदि की माँग पूरी करने के लिए वे जैसे नाटक लिखते थे इस वार वैसी माँग शान्तिनिकेतन विद्यालय की ओर से आई। इसीलिए हम देखेंगे कि इस समय के वहुत-से नाटक—जैसे 'शारदोत्सव', 'अचलायनत', 'फाल्गुनी'—

स्त्री-भूमिकाहीन हैं। उन दिनों शान्तिनिकेतन में छात्राओं का दाखिला नहीं होता था—और देश का वातावरण भी मिश्र अभिनय के अनुकूल नही था। इसके अतिरिक्त इस समय इन्होने 'प्रायश्चित्त' तथा 'डाकघर' की भी रचना की।

'प्रायश्चित्त' पूर्वलिखित 'वौठाकुरणीर हाट' का नाट्य-रूप है। धनजय वैरागी का चरित्र इसकी प्रधान सम्पदा है। अहिंस्र-प्रतिरोध की वाणी लेकर वह उपस्थित हुआ। गांधी के आविर्भाव के पहले धनंजय वैरागी का आविर्भाव मानो प्रभात से पूर्व प्रभात-पक्षी का आगमन था।

'डाकघर' रवीन्द्रनाथ का सर्वोत्तम नाटक है। नाटक की रचना वहुत-कुछ परियों की कहानी के ढाँचे में ढली हुई है। इसकी विस्तृत आलोचना यथासमय करेंगे।

'राजा' नाटक को 'सिम्वोलिक' नाटक कहा जाता है। 'राजा' तथा 'अचलायतन' मे भारतीय साधना के दो प्रधान तत्त्वों का योग है। दास्य, सख्य तथा मधुर रस की साधना मे मधुर रस की साधना सवसे कठिन है—इसीका निदर्शन है सुरंगमा, ठाकुरदा तथा सुदर्शना के चरित्र में, विशेष रूप से सुदर्शना के मानसिक द्वन्द्व मे। 'अचलायतन' में ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग के चित्र प्रदर्शित किये गए है—वहाँ कहा गया है कि इनका समन्वय ही जीवन की यथार्थ सिद्धि है। 'फाल्गुनी' नाटक मे कवि ने दिखाया है कि विश्व-प्रकृति मे जो लीला चल रही है वही लीला रूपान्तरित होकर मानव-प्रकृति में भी प्रसरित हो रही है। वसन्त और यौवन ही सत्य है, शीत और जरा दृष्टि का भ्रम-मात्र है। 'शारदोत्सव' में कवि का वक्तव्य है कि यह जो जगत् अनन्त सौन्दर्य तथा सुधा के द्वारा मानव को ऋणी वनाए हुए है—मानव उस ऋण का प्रतिशोध दु ख को पाकर ही कर सकता है। दु:ख की पूँजी से सौन्दर्य का ऋण-शोध करने पर ही आनन्द-लाभ संभव हो सकता है।

इसके उपरान्त 'मुक्तधारा' तथा 'रक्तकरवी' कवि के उल्लेखयोग्य नाटक हैं। 'शारदोत्सव' से लेकर 'फाल्गुनी' तक नाटक का विषय है मानव के साथ ईश्वर का सवंध और मानव के साथ प्रकृति का संबंध। 'मुक्तधारा' और 'रक्तकरवी' मे जो व्यक्ति दिखाई पडता है वह है सामाजिक मानव। यहाँ सघर्ष है व्यक्ति के साथ सामाजिक व्यवस्था का। अभिजित् और रजन उस व्यक्ति के प्रतिनिधि है जिनका क्रमश. रुद्ध धारा तथा यन्त्र-दानव से द्वन्द्व छिड़ गया है। कवि का वक्तव्य है कि यन्त्र की सहायता द्वारा यन्त्र को पराभूत करने से यन्त्र की ही जय घोषित

होती है। अपने प्राणो द्वारा यन्त्र को आघात पहुँचाना होगा—उससे प्रारम्भ में प्राणो की हानि होने पर भी आखिरकार यन्त्र का प्रभाव शिथिल हो जाता है। अभिजित् मर गया, परन्तु 'मुक्तधारा' का बाँध भी टूट गया। रजन भी मरा है, परन्तु यन्त्र-नगरी की भित्ति भी हिल उठी है। इन दोनो नाटको में कवि ने एक आधुनिक जटिल समस्या पर विचार किया है।

४

'नटीर पूजा' नाटक १९२६ मे प्रकाशित हुआ। कहानी का चयन एक बौद्ध जातक से किया गया है। नाटक का शिल्प-मूल्य काफी ऊँचे स्तर का है—किन्तु इस नाटक की देन कुछ और भी है। मेरा ऐसा विश्वास है कि 'नटीर पूजा' नृत्य मे परवर्ती युग में लिखित नृत्य-नाट्यो की धारणा बीजाकार मे निहित है। इस धारणा ने अनुकूल क्षेत्र तथा दृष्टान्त का समर्थन कवि के जावा द्वीप के भ्रमण-काल मे दृष्ट नृत्य-नाट्य-कला से प्राप्त किया है। नृत्य-नाट्य की धारणा कवि के मस्तिष्क मे थी—यदि अभाव था तो केवल सजीव नृत्य के नाट्य-कला के उदाहरण का। जावा द्वीप ने उस उदाहरण को ला उपस्थित किया। रवीन्द्रनाथ के जीवन के अन्तिम दिनो की सार्थकतम नाटक-रचना की धारा नृत्य-नाट्य के इस जल-प्रवाह-पथ मे प्रवाहित हुई है। 'चित्रांगदा', 'चण्डालिका', 'श्यामा' तथा 'तासेर देश' नृत्य-नाट्य रवीन्द्र-नाट्य-प्रतिभा की अतिम तथा सार्थकतम सृष्टि हैं। नाट्य-प्रतिभा शब्द मे शायद यह नूतन शिल्प-कला का सर्वागीण रूप प्रकाशित नही हो पाया। क्योकि इसमे आकर सम्मिलित हुआ है काव्य, स्वर, नाट्य तथा नृत्य का चतुरग प्रवाह। आशा करता हूँ, यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि इन नृत्य-नाटको मे रवीन्द्र-शिल्प-कला का तथा रवीन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाश हुआ है।

५

यथासभव सक्षेप में रवीन्द्र-नाट्य-प्रवाह का एक परिचय प्रस्तुत किया जा चका है। अब फलोपलब्धि के सबंध मे प्रासगिक मन्तव्य भी संक्षेप में पूरा कर लें।

रवीन्द्रनाथ के नाटक बीच-बीच मे पेशेवर रगमच पर खेले गए है, किसी-

किसी नाटक ने, जैसे 'चिरकुमार सभा' और 'शेष रक्षा' ने, सामयिक रूप से लोकप्रियता भी प्राप्त की है। फिर भी कहना पड़ेगा कि पेशेवर रंगमंच की गति-प्रकृति के साथ रवीन्द्र-नाट्य-प्रवाह का कभी भी मेल नही हो पाया है। क्यो ? शायद दर्शक उस स्तर तक पहुँचने में समर्थ नही हुए हैं। फिर पेशेवर रंगमंच पर जो नाटक प्रसिद्धि प्राप्त करते है उनकी सृष्टि पेशेवर अभिनेता तथा रगमंच के समुद्र-मंथन मे होती है यानी वह सारी वस्तु एक प्रकार से समवेत शिल्प की सृष्टि-रचना होती है। रवीन्द्रनाथ के नाटकों का जन्म निभृत मे हुआ, नही तो पारिवारिक परिवेश मे;—यह चीज उनकी अपनी प्रचेष्टा की सृष्टि है। इसलिए इसकी वास्तविक सम्पदा काव्य-रस है।

बहुत-से समालोचक ऐसे होते है जो नाटक के साहित्यिक मूल्य को नितान्त गौण समझते हैं, उनके मत मे दर्शकों को आनन्द का परिवेशन करना ही नाटक का एक-मात्र उद्देश्य है। यह मत हम ग्रहण नहीं कर सकते। नाटक मुख्यतया साहित्य है और उसी रूप में इसकी आलोचना होनी चाहिए।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि रवीन्द्र के नाटकों का मूल्य असीम है। रवीन्द्रनाथ से पहले भी गीति-नाट्यो की रचना हुई है तथापि उनके प्रारम्भिक युग मे लिखित 'वाल्मीकि-प्रतिभा' और 'मायार खेला' अब तक उपभोग्य है, मनोरंजन के क्षेत्र में भी उनके मूल्यो की हानि नही हुई।

'राजा ओ रानी' और 'विसर्जन' बँगला-साहित्य के श्रेष्ठ त्रासदी नाटक है। बँगला-नाट्य-साहित्य मे प्रहसन की संख्या की कमी नही है। किन्तु 'चिरकुमार सभा' के समान मार्जित, सूक्ष्म, सर्वजन-उपभोग्य प्रहसन और दूसरा नही है—इसकी प्रतिष्ठा जैसी व्यापक है, वैसी ही सहज है इसकी ग्रहणीयता।

उनके द्वारा रचित काव्य-नाटक—जैसे 'चित्रांगदा', 'गान्धारीर आवेदन', 'कर्ण-कुन्ती-सवाद', 'नरकवास' प्रभृति रवीन्द्र-साहित्य की श्रेष्ठ सम्पदा हैं। इस क्षेत्र मे उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही है।

'शारदोत्सव', 'फाल्गुनी' प्रभृति ऋतु-नाट्य-क्रम में 'डाकघर', 'राजा', 'मुक्त-धारा', 'रक्त करवी' प्रभृति सिम्बॉलिक नाट्य-क्रम मे उन्होने नवीन धारा का प्रवर्त्तन किया है, केवल बँगला साहित्य मे ही नही, संभवत· भारतीय साहित्य में भी।

और जीवन की अन्तिम अवस्था मे लिखित नृत्य-नाटक उनकी अपनी मौलिक सृष्टि है—इस क्षेत्र मे वे नव मार्ग का निर्माण कर गए हैं।

काव्य और कहानी के अतिरिक्त नाट्य-रस मे रवीन्द्र-प्रतिभा का सुष्ठुतम प्रकाश प्राप्त होता है, और नाटक के श्रेणी-वैचित्र्य तथा नव्य-नूतन धारा-प्रवर्त्तन में उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

विसर्जन (१८९०)

रवीन्द्रनाथ द्वारा लिखित राजर्षि उपन्यास के प्रथम अश को ग्रहण करके 'विसर्जन' नाटक की रचना हुई है। और फिर राजर्षि उपन्यास का भावसूत्र भी तो स्वप्न द्वारा प्राप्त हुआ है। रेलगाड़ी मे सफर करते हुए कवि ने स्वप्न देखा कि एक बालिका मानो रक्त के स्रोत को देखकर प्रश्न कर रही है, इतना खून क्यो, इतना खून क्यो ? इस प्रश्न को त्रिपुरा राजवश की कथा के साथ मिलाकर उन्होने 'राजर्षि' उपन्यास की रचना की। उसके उपरान्त ठाकुर-परिवार के युवको के अनुरोध से उपन्यास के कुछ अंशो को ग्रहण करके उन्होने 'विसर्जन' नाटक लिख डाला। यह सच बात है कि बार-बार अभिनय की सुविधा के लिए नाटक मे नाना प्रकार के गौण परिवर्तन घटित हुए है, किन्तु कवि के अन्यान्य नाटको की तरह इसका सर्वागीण रूपान्तर नही हुआ है। ठीक इसके एक साल पहले 'राजा ओ रानी' नाटक लिखा गया था। एक साल के भीतर ही नाटकीय रचना-विधि तथा नाटकीय सयम की काफी उन्नति हुई है; 'राजा ओ रानी' मे रचना-विधि का जो शैथिल्य तथा प्रगीतात्मक उच्छ्वास का जो आधिक्य दिखाई पड़ता है—'विसर्जन' मे यह दोष काफी कम हो गया है। प्रधान नर-नारियों के चरित्र सुपरिकल्पित तथा उनकी सीमाएँ सुनिर्दिष्ट है और घटना-विन्यास अप्रतिहत गति से नाटकीय नियमों की रक्षा करता हुआ चरम परिणति को पहुँचता है। बहुतो द्वारा इसे बँगला के त्रासदी नाटकों का श्रेष्ठ निदर्शन समझना पूर्णतः निरर्थक नही है।

इसकी मर्मकथा का विश्लेषण करते हुए कवि ने कहा है कि प्रेम और शौर्य के बीच इसकी मूल वस्तु निहित है। देवमन्दिर मे बलि दिये हुए पशु की रक्तधारा को देखकर एक बालिका प्रश्न करती है, इतना खून क्यो—इस प्रश्न ने राजा गोविन्द माणिक्य की अभ्यस्त दृष्टि से सस्कार की यवनिका उतार फेंकी—राजा के हृदय मे विश्व-प्रेम का आविर्भाव हुआ। राजा के आदेश से देवमन्दिर मे पशु-बलि निषिद्ध हो गई। इस घटना का अवलम्बन लेकर नाटक की ट्रैजेडी सघन होती चली है। मन्दिर का पुरोहित रघुपति प्रचण्ड व्यक्तित्वशाली मनुष्य है।

देवता के प्रताप को आत्मसात् करके वह राजा का प्रतिद्वन्द्वी बन बैठा। कहना व्यर्थ होगा कि रानी, मन्त्री, राजभ्राता तथा राज्य के अधिवासीगण पुरोहित के समर्थक थे—क्योंकि उनके हृदय में प्रेम का आविर्भाव जो नहीं हुआ था।

प्रेम और प्रताप के द्वन्द्व से विभ्रान्तचित्त गोविन्दमाणिक्य का मन विदीर्ण होकर दीर्घ निश्वास के साथ प्रवाहित हुआ है :

ए संसारे विनय कोथाय महादेवी,
यारा करे विचरण तव पदतले
ताराओ शेखेनि हाय कत क्षुद्र तारा।
हरण करिया लये तोमार महिमा
आपनार देहे वये, एत अहंकार।

(महादेवी, इस संसार मे विनय कहाँ ? जो लोग तुम्हारे आश्रय में रहते है, उन्होंने भी विनय नही सीखी, हाय कितने क्षुद्र है, वे तुम्हारी महिमा का हरण करके अपनी देह पर उसे धारण करना चाहते है। कितना अहंकार है उन्हे।)

आखिरकार रघुपति का अहंकार चूर्ण हो जाता है। उसके हृदय मे प्रेम का आविर्भाव होता है—किन्तु इसके लिए मन्दिर के सेवक रघुपति के पालित पुत्र जयसिंह को अपने प्राणों का विसर्जन करना पड़ता है। इस विसर्जन के कारण झंझा-मुक्त निर्मल वातावरण में राजा और रानी का मेल हो जाता है। रघुपति और अपर्णा का भी—जिस भिखारी लड़की को जयसिंह ने प्रेम किया था,—और नररक्तसेवी जड़ पाषाण देवता को रघुपति स्वय विसर्जित करके उसके स्थान पर प्रेम की प्रतिष्ठा करते हैं। नाटक के दो प्रधान चरित्र रानी और रघुपति, व्यक्तिगत वेदना के आघात से, इतना खून क्यो ?—प्रश्न के उत्तर को अपने-अपने अंतर मे प्रतिध्वनित सुनते है।

चित्रांगदा (१८९२)

महाभारत मे वर्णित मणिपुर की राजदुहिता चित्रांगदा तथा अर्जुन की कहानी अतिशय सक्षिप्त है जो दो-एक साधारण मन्तव्यों के भीतर ही निबद्ध है। मूल कहानी के शुष्क कंकाल को रवीन्द्रनाथ की लेखनी के इन्द्रजाल ने अपूर्व लावण्य तथा अमर जीवन प्रदान किया है। दोनों को मिलाकर पढने से कवि की सृजन-शक्ति हमे विस्मित कर देती है।

'चित्रांगदा' नाट्याकार में लिखित होने पर भी वस्तुतः काव्य है। नाटक की गति में तीव्रता और ऋजुता, घटना-संयोग की क्षिप्रता और लक्ष्याभिमुखता की जो आशा की जाती है—'चित्रांगदा' में उसका अभाव प्रकट हुआ है। इसीलिए नाटक के सम्बन्ध में पूर्वसंस्कार को परित्याग कर इसे काव्य रूप में ग्रहण करने पर इसकी असामान्यता क्षण-भर में प्रस्फुटित हो उठती है। इसमें कवि की प्रतिभा से इन्द्रियग्राह्य जगत् रंग, रस, रूप में इस प्रकार मधुर और मांसल हो उठा है कि पाठक को सावधानी से पैर बढ़ाने पड़ते हैं—कहीं ऐसा न हो कि सौन्दर्य-सरोवर के नीर में गिर पड़े तथा उन्हीं की तरह देखने में भी यह सम्भावना रहती है शायद कहीं ऐसा न हो कि चित्रांगदा तथा अर्जुन के देह-सौन्दर्य-भोग की ओर उनकी आँखें चली जायँ। इन्द्रियग्राह्य जगत् का इस प्रकार का उज्ज्वल तथा स्पर्श-कातर चित्र शायद कालिदास के काव्य के अतिरिक्त और किसी भी भारतीय काव्य में अंकित नहीं हुआ है।

किन्तु इसकी सर्वश्रेष्ठ सम्पदा चित्रांगदा का चरित्र है—उसके चरित्र का विवर्त्तन और परिणति। अन्तिम दृश्य में अर्जुन को आत्म-परिचय-दान के उप-लक्ष्य में वह सगर्व घोषणा करती है :

आमि चित्रांगदा।
देवी नाहि, नहि आमि सामान्या रमणी।
पूजा करि राखिबे माथाय, से-ओ आमि
नइ, अवहेला करि पुषिया राखिबे
पिछे से-ओ आमि नहि। यदि पार्श्वे राखो
मोरे संकटेर पथे, दुरूह चिन्तार
यदि अंश दाओ, यदि अनुमति करो
कठिन व्रतेर तव सहाय हइते,
यदि सुखे दुःखे मोरे करो सहचरी,
आमार पाइबे तबे परिचय!

(मैं देवी नहीं हूँ, सामान्य नारी भी नहीं—मैं तो चित्रांगदा हूँ। मैं ऐसी नहीं हूँ जिसको तुम पूजनीय बनाए रख सको और न ऐसी हूँ जिसकी तुम अवहेलना कर सको। यदि तुम संकट के मार्ग पर मुझे अपना साथी बनाओ, यदि तुम्हारी चिन्ता का कुछ भाग मुझे भी वहन करने दो, यदि अपने कठिन व्रत में सहायता पहुँचाने के लिए मुझे अनुमति दो, यदि तुम अपने सुख-दुःख की मुझे सहचरी

बनाओ, तभी तुम मेरा परिचय पा सकोगे।)

यह स्वर जिसका है वह पौराणिक नारी नही, सम्पूर्ण रूप से आधुनिका नारी है। इस आधुनिका नारी की कीर्ति तथा कण्ठ-स्वर से परवर्ती रवीन्द्र-साहित्य पूर्ण है। 'चित्रागदा' मे उसका प्रथम नि.संशय आविर्भाव होता है। इसीलिए काव्य-विचार की सीमा के बाहर सामाजिक इतिहास के क्षेत्र मे भी इस नाटक का अपना एक स्थान है। Chitra नाम से अंग्रेजी में अनूदित होकर इस काव्य ने लोकप्रियता प्राप्त की है, वह शायद इसी कारण। विदेशी पाठकगण भारतीय कवि की लेखनी की पौराणिक नारी को देखने की आशा से आकर आधुनिक नारी को देखकर विस्मित हो गए है।

चिरकुमार सभा (१९००-१९०१)

प्रारम्भ से ही इस पुस्तक का प्रचलन 'चिरकुमार सभा' तथा 'प्रजापतिर निर्वन्ध' इन दो नामो से होता रहा है। इस प्रहसन की रचना सबसे पहले सलाप-बहुल उपन्यास के आकार में की गई थी। बाद में अर्थात् १९२५ के समय पेशेवर रग-मच के आग्रह पर कवि ने इसको सपूर्ण नाटक के आकार मे वदल दिया—और तव पेशेवर रगमंच में अभिनीत होकर नाटक ने प्रभूत लोकप्रियता अर्जित की। यथार्थत: इसीको रवीन्द्रनाथ के नाटक का प्रथम मंच-साफल्य कहा जा सकता है। दीर्घकाल तक निरन्तर इसका अभिनय चलता रहा। उसके वाद भी जव कभी इसका अभिनय हुआ दर्शको का अभाव नही रहा। शौकिया नाटक-मडलियाँ तो अव भी अवसर मिलते ही इस प्रहसन का अभिनय करती है।

इस लोकप्रियता का क्या कारण है? प्रथम कारण है नाटक की मूल घटना का रसपूर्ण सहज आवेदन। आदर्शवादी नवयुवको के एक दल ने देश तथा समाज को उन्नत बनाने की इच्छा से चिरकुमार रहने की मनोकामना प्रकट की है—और चुपके-चुपके चिरकुमार सभा का एक भूतपूर्व सदस्य, जो अव स्वयं विवाहित है तथा अपनी दो अविवाहित सालियो की शादी के विषय मे उद्विग्न है, उनका ध्यान भंग करने का आयोजन कर रहा है। अब दर्शक के चित्त मे इस प्रकार की घटना का आवेदन जैसे सहज है उसी प्रकार व्यापक भी है। दूसरा कारण, चिरकुमार सभा के प्रवीण सभापति चन्द्रमाधव वावू उक्त सभा के भूतपूर्व सदस्य अक्षय और उसके श्वसुरालय के दूर सम्पर्कीय सम्बन्धी रसिक प्रभृति सजीव पात्र है। तीसरा

कारण है—संलाप की असि-क्रीड़ा। चतुर्थ कारण—हास्यरस तथा श्लेष का मुहुर्मुहु, स्फुलिंग-वर्णन; तथा पंचम कारण है—नाटक में प्रयुक्त रवीन्द्र-संगीत का इन्द्रजाल।

बँगला साहित्य में प्रहसनों का अभाव नहीं है। किन्तु सब ओर से विचार करने पर 'चिरकुमारसभा' को सर्वोच्च आसन पर स्थान देना पड़ता है। रुचि की स्थूलता, घटना की अशालीनता, संलाप का असमाजित रूप आदि बहुधा प्रहसन के दोष बन जाते हैं। 'चिरकुमार सभा' इन सभी दोषों से मुक्त है—और इसमें जो विशिष्ट गुण हैं वे इतने दुर्लभ हैं कि सच पूछिए तो अन्य प्रहसनों में मिलते ही नहीं हैं। और इस अतिलघु घटना-प्रवाह के बीच में भी बड़े सहज रूप में रवीन्द्र-जीवन-तत्त्व सम्मिश्रित है। प्रकृतिऋण,—मानव-प्रकृति के ऋण से उऋण हुए बिना अन्य साधना के हेतु अग्रसर होने पर प्रकृति देवराज इन्द्र की भाँति ध्यानभंग करने के उद्देश्य से उर्वशियों को भेजती है। 'प्रकृतिर प्रतिशोध' नाटक में जिस तत्त्व की व्याख्या गंभीर रूप में की गई है—यहाँ पर उसका प्रयोग लघुरूप में हुआ है यद्यपि दोनों तत्त्व मूलतः एक ही हैं।

—प्रमथनाथ बिशी

विसर्जन

अनुवादक :
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

प्रथम अंक

पहला दृश्य

मन्दिर

(गुणवती का प्रवेश)

गुणवती : माता का न जाने कौन अपराध मुझसे
हो गया है ! भिक्षुक जो दाह से उदर की
वेच देता अपनी ही संतति को, देती हो
उसको भी शिशु—पापिनी जो लोक-लाज से
वध करती है अपने ही कोख-जाये का,
कोई असहाय जीव उसके भी गर्भ मे
माता, तुम्ही भेज देती, किन्तु हाय रे, यहाँ
सौ-सौ दास-दासियो, प्रजाओ-सेना-सग मै
राजरानी होकर भी लालसा लिये हुए
बैठी हूँ कि एक वार पा सकूँ परस तो
एक नन्हे शिशु का प्रतप्त इस वक्ष से।
वैठी हूँ कि एक और प्राणाधिक प्राण का
अनुभव पा सकूँ मै अपने भी प्राण मे।
वैठी हूँ कि इस वक्ष, इन दोनों वाँहो से,
इस गोद, इस दृष्टि से ही रचना करूँ
निविड़ जीवंत एक नीड़ की, कि जिसमे
स्पदन हो मेरी प्राण-कणिका का सर्वदा।
देखेंगे मुझे दो दृग प्रथम आलोक मे,
खिलेगा मेरी ही गोद मे प्रथम हास वह
शब्दहीन मुख पर अकारण आनन्द से !

कुमार-जननी माता, मुझे किस पाप से
वंचित किया है मातृ-स्वर्ग से ?

(रघुपति का प्रवेश)

अहे प्रभो !

पूजन मैं माँ का करती हूँ चिरकाल से,
जान-बूझ कोई अपराध भी किया नहीं,
पुण्य देह मेरे पति शिव के समान है—
फिर किस दोप से किया है महामाया ने
निःसंतान-श्मशान-चारिणी, बतलाइये !

रघुपति : कौन समझेगा माँ की क्रीडा ! वे इच्छामयी
दुहिता पापाण की, कि सुख-दुःख उनकी
इच्छामात्र। धैर्य धरो, पूजा इस बार की
नाम से तुम्हारे होगी। श्यामा की प्रसन्नता
देवि, इस बार तुम पाओगी अवश्य ही

गुणवती : पूजा के निमित्त बलि-पशु इस वर्ष मैं
दूँगी स्वयं। करती मनौती हूँ कि माँ मुझे
देंगी यदि संतति तो मैं भी प्रतिवर्प ही
एक सौ महिष, अज-शावक भी तीन सौ
श्रद्धा के सहित उन्हें भेंट में चढाऊँगी।

रघुपति : पूजा का समय हो गया है देवि, अब तो !

(दोनों का प्रस्थान)

(गोविन्दमाणिक्य, अपर्णा और जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह : आज्ञा महाराज ?

गोविन्द : एक छोटा अज शिशु है,
दीना इस बालिका के स्नेह का जो पुतला,
सुना है कि उसे छीनकर लाया गया है
माता के समीप बलि देने के निमित्त। पर
जननी क्या ग्रहण करेगी इस दान को
होकर प्रसन्न भुजा दाहिनी से अपनी ?

जयसिंह : कैसे जानूँ महाराज, राजभृत्य लाते है

पूजा हेत देवी के कहाँ से वलि-पशु को ?—
हाँ जी, तुम रोती क्यो हो ? स्वय विश्वमाता ने
ग्रहण किया है जिसे, उसके लिए भी क्या
रोना इस भाँति अच्छा लगता तनिक भी !

अपर्णा . कौन है तुम्हारी विश्व-माता ? मेरा शिशु क्या
पहचान पावेगा उन्हे, कि वह मातृहीन है,
अपनी भी माँ को वह जान नही पाया है।
देर से मैं आती हूँ तो तृण नही खाता है,
पथ-ओर देख-देख रहता पुकारता—
आकर उसे मैं भर लेती निज गोद मे
भीख-मिला अन्न हम बाँटकर खाते हैं।
सच कहूँ, एक-मात्र माता उसकी हूँ मै।

जयसिह : महाराज, भाग देके प्राण का भी अपने
रक्षा कर पाता यदि उसकी, तो करता।
माँ ने उसे ग्रहण किया है किन्तु, अब तो
हाय, उसे किसी भाँति लौटा नही पाऊँगा।

अपर्णा : माँ ने उसे ग्रहण किया है ? बात झूठी है,
राक्षसी किसी ने स्यात् उसे चबा डाला है।

जयसिह : ऐसी बात, छी-छी, मत मुँह से निकालना।

अपर्णा : माँ, तुम्हीने छीना है गरीबिनी के धन को ?
राजा यदि चोरी करता है, सुना मैंने है,
राजा एक और है जगत् का, परन्तु जो
तुम्ही करो चोरी तो बताओ भला उसका
करेगा विचार कौन ? महाराज, बोलिये—

गोविन्द : बेटी, मैं अवाक् हूँ—व्यथा क्यो भला इतनी,
इतना क्यो रक्तपात, कौन बतलायेगा ?

अपर्णा : सीढियो से बहकर आता रक्त—चिह्न जो
दीखता है यह, क्या उसीकी रक्त धार है ?
बेटे मेरे, हाय-हाय, मुझको पुकारके
रोया होगा कितना तू, व्याकुल नयन से

देखा होगा चारो ओर कातर हृदय से,
मेरे प्राण थे जहाँ, वहाँ से हाय, भागके
आ गए नही क्यो यहाँ रहते समय के ?

जयसिंह : पूजता रहा हूँ जन्म से ही तुम्हे फिर भी।
(देवी की प्रतिमा से)
माया नही समझ सका हूँ अब तक मैं।
प्राण करुणा से रोते मानव के रहते
विश्व-जननी का नही हृदय पसीजता।

अपर्णा : (जयसिंह से)
निष्ठुर नही हो तुम, नयनो की कोर से
मेरा दु ख देखकर आँसू भरे आते है।
आओ तुम तब इस मन्दिर को छोडके,
कर दो क्षमा भी मुझे, क्योकि मैने माना था
अपराधी तुमको भी, यद्यपि नही थे तुम !

जयसिंह : (प्रतिमा से)
हे गिरीशनन्दिनी ! तुम्हारे देवालय मे
गूँजा यह नूतन सगीत कौन, कैसा है,
करुणा से कातर हुए-से कठ स्वर मे,
अपरूप वेदना से भक्तो का हृदय भी
हो उठा है व्याकुल-सा ! जाऊँ कहाँ शोभने !
छोड इस मदिर को, आश्रय भी है कहाँ ?

गोविन्द : (अलग से)
आश्रय वही है, जहाँ प्रेम का निवास है।

जयसिंह : किंतु प्रेम है कहाँ, यही तो नही दीखता।
भद्रे, तुम आओ, चलो, मेरे ही कुटार मे।
मैने है प्रतिज्ञा की कि अपने अतिथि की
पूजा मैं करूँगा आज दिन देवी-रूप मे।
(जयसिंह और अपर्णा का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

राज-सभा

(राजा, रघुपति और नक्षत्रराय का प्रवेश।
सभासद्गण उठ खड़े होते हैं।)

सभी : जय महाराज की हो !
रघुपति : राज-भांडार मे
आया हूँ मैं पूजा-हेतु वलि-पशु लेने को।
गोविन्द : मंदिर मे इस वर्ष से ही पशु-वलि का
हो गया निषेध है।
नयनराय : निषेध पशु-वलि का ?
मंत्री : वलि का निषेध !
नक्षत्रराय : सच ही तो, पशु-वलि का ?
रघुपति : स्वप्न में ही मैं क्या यह वात सुन पा रहा !
गोविन्द : स्वप्न यह नही प्रभु ! अव तक स्वप्न में
था मैं, आज जागा हूँ कि वालिका के रूप मे
जननी ने आकर स्वय ही कहा मुझसे,
जीव-रक्त-पात उनसे न सहा जाता है।
रघुपति : इतने दिनो से किन्तु कैसे सह पाई थी ?
वर्षो से सहस्र, रक्त पीती आ रही थी जो,
आज सहसा ही उन्हे उससे अरुचि क्यो ?
गोविन्द : शोणित उन्होने किन्तु था नही कभी पिया।
रक्त-पात करते थे तुम जव-जव भी,
देवी तो सदैव निज मुँह फेर लेती थी।
रघुपति : कह क्या रहे हैं महाराज, आप इसको
एक वार भली भाँति सोच ले, विचार ले।
शास्त्र का विधान तो अधीन नही आपके।
गोविन्द किन्तु वड़ा देवी का आदेश सारे शास्त्र से।
रघुपति : एक तो है भ्राति, तिस पर अहकार है !
मूढ नर, देवी का आदेश सुना तुमने

और जैसे मैंने है सुना ही नही कुछ भी !

नक्षत्रराय : वही तो, वही तो मत्री, तुम कहते हो क्या ?
कैसा अचरज, पुरोहित ने सुना नहीं !

गोविन्द : देवी का निदेश चिर काल से ध्वनित है
जग मे। वही है महाबधिर कि जो उसे
सुन करके भी कभी सुन नही पाता है।

रघुपति : राजा, तुम नास्तिक हो, ढोंगी बडे भारी हो।

गोविन्द : होता है समय नष्ट यो ही पुरोहित जी !
अब आप मदिर का काम-काज देखिये।
जाते-जाते राह मे प्रचार कर दीजिये,
जीव-जननी की पूजा करने के छल से
जीव-हत्या करेगा जो मेरे इस राज्य मे
दंड दूँगा मैं उसे कठोर निर्वासन का।

रघुपति : निर्णय यही क्या सच, अन्तिम तुम्हारा है ?

गोविन्द : निश्चय यही है।

रघुपति : तो तुम्हारा सर्वनाश हो !

चाँदपाल : (दौड़ते हुए आकर)
हाँ, हाँ ! रुको, रुको !

गोविन्द : आओ चाँदपाल ! बैठो तो !
कह लो पुरोहित, जो कहना है तुमको।
मनोव्यथा कम हो तो जाओ काम-काज को।

रघुपति : समझ रखा है तुमने क्या त्रिपुरेश्वरी
प्रजा ही त्रिपुर की, कि उन पर भी तुम्ही
शासन करोगे ? छीन लोगे बलि उनकी ?
भूलो मत राजा, शक्ति इतनी नही तुम्हे
सेवक मैं माता का अभी भी विद्यमान हूँ।

(प्रस्थान)

नयनराय : महाराज, क्षमा करें स्पर्धा अनुगत की
किस अधिकार से प्रभो, यो बलिदान को—

चाँदपाल . शान्त रहो सेनापति !

मंत्री : महाराज, आपने
निश्चय किया है यही, आज्ञा नही लौटेगी ?

गोविन्द : नही मंत्रिवर ! न विलम्ब क्षण-भर का
उचित यहाँ है नाश करने मे पाप का।

मत्री : पाप की क्या होती इतनी भी परमायु है
शत-शत वर्षों से पुरानी परिपाटी जो
पल देवता के चरणों में हुई बूढी है,
उसको भी पाप कहने का अवसर है ?

नक्षत्रराय : वही तो, भला क्या पाप हो सकेगा वह भी ?

मंत्री : पूर्वज हमारे जिस रीति सनातन को
पालते हैं आये भक्ति से औ अनुराग से,
अपमान उसका, उन्हीका अपमान है।

(राजा सोचते हैं)

नयनराय : सोचकर देखे महाराज, युग-युग से
भक्ति भरी सम्मति मिली है जिस बलि को
जन की सहस्रो, उसे नष्ट करने का क्या
अधिकार आपको है ?

गोविन्द : (उसाँस लेकर)
तर्क रहने ही दो !
जाओ मंत्री, जाकर प्रचार करो आज्ञा का—
मदिर मे आज से ही पशु-बलि बद है।

(प्रस्थान)

मंत्री : यह क्या हुआ ?

नक्षत्रराय : हे मत्री ! मैं भी यही कहता
हो गया क्या यह ! सुना मैंने ही कि मग के
मंदिरो मे होती नहीं बलि, पर अब तो
मग और हिन्दू में न भेद रह पाया है।
कहो चाँदपाल, भला तुम कहते हो क्या ?

चाँदपाल : भीरु हूँ मै क्षुद्र प्राणी, बुद्धि नही उतनी,

समझे विना ही आज्ञा पालता नरेश की।

तीसरा दृश्य

मन्दिर

जयसिंह · जननि ! यहाँ है हम दो ही
—तुम और मैं
दीर्घ इस दिन मे न कोई और आया है
ऐसा लगता है, मानो बीच-बीच मे मुझे
कोई है पुकारता-सा ! माँ के पास रहके
लगता अकेला हूँ मैं आप अपने ही को।

(नेपथ्य से गान)

गीत—१

मै चली अकेली इस जग में
देगा पथ का संधान कौन ?

जयसिंह : माँ ! तुम्हारी माया यह कितनी अनूठी है,
मानव के प्राण देते देवता को प्राण है !
निश्चल थी अभी, अभी तुम वाक्-हीन थी
और अभी कठ-स्वर सुनके सन्तान का
हो उठी हो सजग, जीवन्त जैसे जननी !

(गीत गाती हुई अपर्णा का प्रवेश)

गीत—२

मै चली अकेली इस जग में
देगा पथ का संधान कौन ?
भय नहीं, नहीं मुझको भय है
चलती जाऊँगी निश्चय है,
जो सुमुख सुमन सौरभमय है,
यह भ्रमर अकेला ही उस तक
भागा जाता अनजान कौन ?

जयसिह : वह क्या अकेला ही है ? दक्खिनी पवन जो
वहे नही और फिर सौरभ सुमन का
आये नही कही से, दिशाएँ दसो जागे जो
शंका के समान दस, तब रह पाएगा
सुख कहाँ, पथ होगा कौन-सा बताओ तो
जानती हो कहते अकेला है किसे भला ?

अपर्णा : जानती हूँ। जब भरा मन लिये बैठी हूँ
देना चाहती हूँ, नही लेने वाला कोई है ।

जयसिह : देवता एकाकी जैसे पहले सृजन के,
ठीक ही है, ठीक, होता ऐसा ही प्रतीत है,
मानो यह जीवन बहुत ही अधिक हो—
जितना बड़ा हो यह, उतना ही शून्य हो
और उतना ही हो अनर्थक भी, व्यर्थ भी ।

अपर्णा : जयसिह, जान पड़ता है, हो अकेले तुम,
देखा है इसीसे मैंने, जो दरिद्र जन है,
तुम उससे भी हो दरिद्र, ढूँढते उसे
जो तुम्हारा सब-कुछ लेके नि.स्व कर दे ।
भटक रहे हो दुखियो के द्वार-द्वार तुम ।
इतने दिनो से फिरती हूँ भीख माँगती,
जाने कितनो को देखती हूँ, जोहती हूँ मै
कितनो का मुँह—वे समझ यही पाते हैं,
एक-मात्र भिक्षा के लिए ही, और इससे
दूर से ही मुष्टि-भिक्षा देते दया करके ।
इतनी दया परन्तु पा नही कही सकी,
पाकर जिसे न दैन्य याद आवे अपना ।

जयसिह : सच्चा जो है दाता,
वह दान रूप मे स्वयं
आता है उतरके दरिद्र के निकट को ।
जैसे मेघ आता है उतरके गगन से
हाहाकारी मरुभूमि पर वृष्टि रूप मे ।

मानवी का रूप धर देवी है उतरती
प्यार करती है जिसे, उसके निकट को।
दाता औ दरिद्र, यो मनुष्य और देवता
होते एकाकार !—वह देखो, गुरुदेव भी
आ रहे है मेरे।

अपर्णा : छिप जाऊँ अन्तराल मे।
ब्राह्मण से मुझे डर लगता बहुत है।
कैसी है कठिन तीव्र दृष्टि, भाल कैसा है
कठिन कि जैसे देवी-मन्दिर की सीढियाँ
प्रस्तर-निर्मित हो !

जयसिह : कठिन ? हाँ, कठिन है,
स्रष्टा के समान, किन्तु है यही कठिनता
आश्रय अटल एक इस चराचर का।

(रघुपति का प्रवेश। जयसिह पैर धोने के लिए जल आदि आगे बढा देता है।)

जयसिह : गुरुदेव !

रघुपति : जाओ, जाओ !

जयसिह : जल यह लाया हूँ

रघुपति : रहने दो जल

जयसिह : वस्त्र ?

रघुपति : कौन चाहता है उसे ?

जयसिह : बन पड़ा मुझसे क्या कोई अपराध है ?

रघुपति : फिर वही बात ! अपराधी कौन कहता ?
घिर आया घोर कलिकाल है जगत् मे।
राहु के समान बाहुबल ब्रह्मतेज को
चाहता है ग्रसना ! सम्मुख यज्ञ-वेदी के
सिहासन आज निज मस्तक उठाता है।
हाय, असहाय कलिकाल के हे देवता !
तुम भी वहन करते हो राज-आज्ञा को
मस्तक झुकाके, चाटुकार सभासद्-सा ?
चतुर्भुजे ! हाय, तुमने भी जोड़ रक्खे है

चारो हाथ ! दैत्यो ने फिर क्या लिया छीन है
स्वर्ग को ? कि देवता छिपे जा रसातल में ?
आज बस दानव औ मानव ही मिलके
विश्व-राज्य भोग करते है अति दर्प से ?
देवता नही भी हो तो ब्राह्मण अभी भी है,
ब्राह्मण के रोप-यज्ञ मे ही हवि-काष्ठ-सा
आज जल जायगा सिंहासन का दण्ड भी ।

(जयसिंह के निकट आकर)

वत्स, मैंने रूखा व्यवहार किया तुमसे
आज है, परन्तु मेरा चित्त बड़ा क्षुब्ध है !

जयसिंह : क्या हुआ है प्रभु ?

रघुपति : क्या हुआ है, बतलाऊँ क्या ?
त्रिपुर-अधीश्वरी के घोर अपमान की
बात कहूँ कैसे इस मुँह से बताओ तो !

जयसिंह : किसने किया है अपमान ?

रघुपति : स्वयं राजा ने ।

जयसिंह : राजा ने किया है भला अपमान किसका ?

रघुपति : किसका ? तुम्हारा, मेरा, शास्त्रो, देश-काल का
और सर्व-देश-काल की जो अधिष्ठात्री है
महाकाली, सबका किया है आज राजा ने
अपमान, तुच्छ सिंहासन पर बैठके ।
माँ की पूजा-बलि रोक दी है अति स्पर्धा से ।

जयसिंह : गोविन्दमाणिक्य ने ?

रघुपति : हाँ, तुम्हारे राजा ने ।
वही जो तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ, अधीश्वर है
प्राणो के ! कृतघ्न ! तुम्हे पाला बचपन से,
कितने जतन, कितने गभीर स्नेह से
और आज मुझसे भी प्यारा हो गया तुम्हे
गोविन्दमाणिक्य ही ?

जयसिंह : पिता की गोद बैठके

मुग्ध छोटा शिशु है बढाता कर नभ मे
पूर्णचन्द्र लेने को। पिता हो देव, मेरे तुम
नभ शशि महाराज गोविन्द माणिक्य है।
किन्तु बकवाद करता हूँ ? यह कैसी मै !
सुन रहा क्या हूँ ? है निषेध किया राजा ने
माँ की बलि-पूजा का ? निदेश कौन मानेगा ?

रघुपति : मानेगा नही जो, होगा निर्वासित देश से।

जयसिंह : पूजा जिस राज्य मे न माँ की होने पायगी
निर्वासन वहाँ दण्ड नही। प्राण रहते
पूजा जननी की न अधूरी रह पायगी।

चौथा दृश्य

अंतःपुर

(गुणवती और परिचारिका)

गुणवती : कहती है क्या तू ? देवी-मन्दिर के द्वार से
लौटा दी गई है वलि-पूजा आज रानी की ?
मस्तक है कितने शरीर पर उसके ?
कौन वह दूरदर्शी है, मुझे बता दे तू।

परिचारिका : साहस बटोर नही पाती कहने का मैं।

गुणवती : कहने का साहस नही है तुझे ? यह भी
कहा किस साहस से तूने, वतला भला ?
मुझसे बडा भी कोई और तुझे भय है ?

परिचारिका : क्षमा करे महारानी !

गुणवती : रानी कल तक मै
थी, कि कल सध्याकाल ही मे वन्दीजन ने
स्तव-गान किया था, दिया था विप्रगण ने
आशीर्वाद, ले गए थे भृत्य हाथ जोडके

मुझसे आदेश,—एक रात में ही पर क्या
उलट गया है यह नियम ? न देवी ने
पूजा पाई, खण्डित भी हो गई है महिमा
रानी की ? तो त्रिपुरा क्या एक स्वप्न-राज्य था ?
ब्राह्मण पुरोहित को शीघ्र ही बुलाओ तो !

(गोविन्दमाणिक्य का प्रवेश)

गुणवती : सुना महाराज ! माँ के मन्दिर के द्वार से
लौटा दी गई है आज पूजा पशु-बलि की !

गोविन्द : जानता हूँ रानी !

गुणवती : जानते हो तुम ? फिर भी
रोका नही तुमने ? तुम्हारी जानकारी में
राजमहिषी का यह अपमान हो गया ?

गोविन्द : प्रिये, उसे क्षमा करो। मूर्ति हो दया की तुम।

गुणवती : किन्तु महाराज ! यह केवल दया नही—
यह है कायरता। हो दुर्बल दया से तुम,
दण्ड दे न पाओ तो मै दण्ड दूँगी आप ही।
बतलाओ मुझे वह कौन अपराधी है ?

गोविन्द : अपराधी मैं हूँ देवि ! पर इतना ही है
अपराध, मैने तुम्हे व्यथा पहुँचाई है।

गुणवती : महाराज, तुम यह कैसी बात करते ?

गोविन्द : देवता के नाम पर रक्तपात जीवो का
आज से हमारे इस राज्य मे निषिद्ध है।

गुणवती : किसने निषेध किया ?

गोविन्द : जननी ने आप ही।

गुणवती : किसने सुना निषेध ?

गोविन्द : मैने।

गुणवती : भला तुमने ?
सुन यह बात हँसी रोके नही रुकती।
महाराज ! राजेश्वरी आई राज-द्वार पर
अपना सुनाने को आवेदन !

गोविन्द : हँसो नही।
जननी ने आकर स्वय ही सन्तान के
मन मे प्रकट की है वेदना हृदय की।
यह तो आवेदन नही है राजमहिषी !

गुणवती वात यह रहने दो, वाहर मन्दिर के
राज्य है तुम्हारा। मत आज्ञा दो वहाँ, जहाँ
आज्ञा नही चलती तुम्हारी महाराज हो।

गोविन्द : रानी, यह मेरी नही आज्ञा जननी की है।

गुणवती : कैसे जाना तुमने ?

गोविन्द : मलीन दीपालोक मे
अधकार रह ही जाता है गृह-कोण मे,
कर सकता है दीप सब-कुछ, अपनी
छाया को परन्तु वह मिटा नही सकता।
मानव की बुद्धि भी है दीप के समान ही,
जितना प्रकाश करता है दान, उतनी
संशय की छाया वह पीछे छोड जाता है।
स्वर्ग से उतरता है ज्ञान जब, पल मे
एक साथ सशय समस्त दूर होते हैं।
सशय नही है कोई अब मेरे मन में।

गुणवती : सुना है कि पाप-पुण्य रहता है अपना
पास अपने ही। रहो लेके तुम सुख से
अपने असशय को—कि मेरी राह छोड़ दो,
अपनी पूजा की वलि लेके अब जाऊँ मैं
अपनी माँ के समीप।

गोविन्द : देवी जननी की मैं
आज्ञा किसी भाँति टाल सकता नही कभी।

गुणवती : मैं भी टाल सकता नही हूँ वात अपनी।
माँ को दे चुकी हूँ मैं वचन, उसी भाँति से
पूजन करूँगी उनका मैं शास्त्र-विधि से।
जाओ, तुम जाओ,

गोविन्द : जैसी आज्ञा महारानी की।

(प्रस्थान)

(रघुपति का प्रवेश)

गुणवती : मेरी पूजा लौटा दी गई है पुरोहित जी,
मन्दिर के द्वार से,

रघुपति : जो लौट आई पूजा है
महारानी, वह न तुम्हारी। उञ्छवृत्ति से
पूजा करता है जो दरिद्र भीख माँगके
न्यून वह नही, राजेन्द्राणी, तव पूजा से।
किन्तु सर्वनाश तो यही है सबसे बड़ा,
माँ की पूजा लौट गई। और सर्वनाश है
यह भी बड़ा कि राजदर्प क्रम-क्रम से
स्फीत होके चाहता अतिक्रमण करना
धरा की राजत्व-सीमा, देवता के द्वार को
रोककर बैठा वह, आँखें लाल करके
जननी के भक्तों को कठोर होके देखता।

गुणवती : होगा क्या पुरोहित जी,

रघुपति . जानें महामाया ही।
इतना ही जानता सिंहासन की छाया जो
माँ के द्वार पै पड़ो, फटेगा जल-विम्ब-सा
एक फूत्कार से ही दम्भ-मंच उसका।
राजा-पिता-पितामहो ने युगो से मिलके
ऊपर की ओर जो उठाई राजमहिमा,
अभ्रभेदी किया जिसे, वह एक पल में
होगी धूलिसात्, वज्रदीर्ण, झंझाहत भी
और दग्ध शेष, छार-खार होगी, देखना।

गुणवती : रक्षा करो, रक्षा करो प्रभु !

रघुपति : हा हा ! मैं करूँ
रक्षा क्या तुम्हारी भला। स्वर्ग और मर्त्य मे
जो प्रबल राजा निज शासन चलाता है,

तुम रानी उसकी। जो देव-ब्राह्मणो को भी···
धिक् शतबार धिक् ! धिक् लक्ष बार है !
धिक् कलि-ब्राह्मण को ! कहाँ ब्रह्मशाप है !
व्यर्थ ब्रह्मतेज बस अपने ही उर को
आहत वृश्चिक-सा है आप दश करता।
मिथ्या-ब्रह्म-आडंबर !

(यज्ञोपवीत तोड़ने को उद्यत होता है)

गुणवती . हाँ, हाँ, करते हैं क्या !
देव, करे रक्षा. दया रक्खें दोपहीन पर !

रघुपति ब्राह्मण का अधिकार तब तुम फेर दो।

गुणवती : फेर दूंगी प्रभु ! तुम जाकर पूजा करो
मदिर मे। कोई विघ्न होने नही पाएगा।

रघुपति : जो आदेश राजेश्वरी ! देवता कृतार्थ हैं
तुम्हारे आदेश-बल से, कि निज तेज को
ब्राह्मण ने पाया फिर। धन्य तुम्ही लोग हो,
कल्कि अवतार नही होता जब तक है।

(प्रस्थान)

(गोविन्दमाणिक्य का पुनः प्रवेश)

गोविन्द . प्रेयसी का अप्रसन्न मुख विश्व-भर मे
समस्त आलोक, सब सुख लुप्त करता
उन्मन-उत्सुक-चित्त लौट-लौट आता हूँ।

गुणवती · जाओ, जाओ, घर मत आओ। अभिशाप को
यहाँ मत लाना।

गोविन्द : प्रियतमे ! प्रेम करता
नाश अभिशाप का। दया भी कर देती है
दूर अकल्याण को। परन्तु यदि सती के
हृदय से प्रेम चला जाय, पतिगृह मे
पड़ता है अभिशाप। देवी, तब जाऊँ मैं।

गुणवती जाओ, फिर लौटकर मुँह न दिखाने को।

गोविन्द : स्मरण करोगी जब, तभी फिर आऊँगा। (प्रस्थानोद्यत)

गुणवती : (पाँव पर गिरकर)
क्षमा करो, क्षमा करो नाथ ! इतने भी क्या
हो गए हो निठुर, नारी के अभिमान की
कर अवहेलना चले ही सच जाओगे ?
जानते नही हो प्रियतम, तुम यह क्या,
व्यर्थ प्रेम दीख पड़ता है छद्मवेश मे
रोष वनकर। चलो निज अभिमान से
अपमान मैने किया अपना—क्षमा करो।

गोविन्द : प्रिये ! टूट जाता जो तुम्हारा विश्वास तो
उसी क्षण जीवन का बन्धन भी टूटता।
जानता हूँ प्रिये ! मेघ होता क्षण-भर का,
और सूर्य नित्य का ही साथी हुआ करता।

गुणवती : मेघ क्षण-भर का होता है ! यह मेघ भी
छँट जायगा, कि वज्र उद्यत विधाता का
लौटेगा, उगेगा सूर्य साथी चिर दिन का,
जागृत करेगा चिर दिन की प्रथा को भी
जग मे। अभय सभी लोग अव पायेगे—
दो पल का स्वप्न बुरा भूल-भूल जायेगे।
आज्ञा करो ऐसी ही प्रचारित कि जिससे
ब्राह्मण को मिले अधिकार निज, देवी को
पूजा मिले, राजदड लौट जाय अपने
अप्रमत्त मर्त्य-अधिकार की ही सीमा मे।

गोविन्द : धर्महानि ब्राह्मण का अधिकार है नही।
पूजा थी न होती जननी की रक्त-धार से
असहाय जीवो के; कि विप्र और राजा का
है समान अधिकार आदेश-पालन मे
देवता के।

गुणवती भीख माँगती हूँ, भीख तुमसे !
विनय-निवेदन है हार्दिक, चरण मे—
चिरागत प्रथा तो है मुक्त-समीरण-सी

चिरप्रवाहित; सम्पदा न वह राजा की—
उसकी भी भीख माँगती है हाथ जोड़के
महिषी तुम्हारी, सारे प्रजाजन के लिए।
प्रियतम ! प्रेम की दुहाई यह मान लो,
प्रेम के आकर्षण के वश हो विधाता भी
मार्जन करेंगे दोष तुम्हारे कर्तव्य का।

गोविन्द : महारानी ! उचित यही है क्या तुम्हे कहो ?
नीच स्वार्थ से, कठोर क्षमता के दर्प से
हिंस्र, वृद्ध प्रथा चिर-रक्त-पान से बढ़ी
जो है उससे भी और अंध अज्ञान से—
शत-शत शत्रु से अकेला युद्ध करके
थककर जब लौटता हूँ घर, पीने को
अमृत की धार नारी-चित्त मे, वहाँ भी क्या
नही है दया की सुधा ? घर में तो बहती
प्रेम की पवित्र धारा, किन्तु उससे भी क्या
रक्त-धारा आके मिली ? यह किस दैत्य ने
खोल दिया जाने कहाँ रक्त-स्रोत इतना—
भक्ति प्रेम मे भी रक्त घुल-मिल जाता है,
क्रूर हिंसा दयामयी रमणी के प्राणों में
शोणित के धब्बे लगा जाती ! फिर भी क्या मैं
रोकूं नही इसको ?

गुणवती : (मुँह ढककर) हाँ, जाओ, चले जाओ तुम।

गोविन्द : हाय महारानी ! होता कठिन कर्तव्य है
जब तुम लोग मुँह फेर लेती अपना।

(प्रस्थान)

गुणवती : (रोकर) इतने दिनो से तूने हाय री अभागिनी !
अपने हृदय मे कैसी भ्रांति पाल रक्खी थी।
संशय नही था, आज होगा व्यर्थ इतना
अनुरोध, अनुनय औ अभिमान इतना।
छी, छी, किस आदर से पुत्र-हीना रमणी

पति से करेगी अभिमान, धूल में मिले
अभिमान ऐसा ! जले भाग्य ! मिले मिट्टी मे
महिषी का गर्व ! अव नही क्रीड़ा प्रेम की,
क्रंदन सुहाग का । हाँ, समझ गई हूँ मैं
स्थान निज—या तो नत-सिर धूलि-कण में
या नही तो अपने ही तेज से प्रदीप्त-सी
फण को उठाए हुए भीषण भुजंगिनी ।

पाँचवाँ दृश्य

मन्दिर

(कुछ लोगों का प्रवेश)

नेपाल : कहाँ हैं जी, तुम्हारे तीन सौ पाठे और एक सौ भैंस ? छिपकल की एक कटी हुई दुम तो कही दीख ही नही पड़ती । गाजा-वाजा क्या हुआ ?—सब-कुछ तो खाँव-खाँव कर रहा है । मैं तो खर्च-वर्च करके पूजा देखने आया—यह अच्छी सज़ा मिली !

गणेश : देखो, मंदिर के सामने खड़े होकर ऐसी बातें मत करो । माँ को पाठे तो नही मिले—लेकिन जव वे जायँगी तो तुममें से एक-एक को पकड़कर चवा जायँगी ।

हारू : कहो तो भला, पिछले साल ये वावू लोग कहाँ थे ? और फिर उस साल, जव रानी माता ने व्रत करके पूजा चढ़ाई थी, तव क्या तुम लोगों के पाँवों मे काँटे गड़ गए थे ? तव आके क्यो नही देखा एक वार ? ओः, खून से सारी गोमती ही रंग गई थी । और अव आये है साले असगुन की तरह, जव माँ की खूराक तक वन्द हो गई । तुममे से एक-एक को पकड़कर माँ की भेंट चढ़ा दूँ, तव कही जी की जलन मिटे !

कन्हैया : अरे भाई, तुम तो खामखाह विगड़े जा रहे हो । अव क्या कुछ कहने का मुँह रह गया है हम लोगों का ? होता, तो क्या खड़े-खड़े

उसकी बात सुना करते ?

हारू : भाई, कुछ कहो, लेकिन यह तो सच है कि मुझे थोड़े ही मे गुस्सा आ जाता है। उस दिन उस आदमी ने 'साला' भर ही कहा था, इससे आगे अगर वह एक भी बात कहता, या मेरे बदन पर हाथ लगाता, तो बाप-कसम, सच कहता हूँ—

नेपाल : तो चलो न, देख ही लें कि किसकी हड्डी मे कितना ज़ोर है !

हारू : चलो न ! जानते नही, यहाँ का दफेदार हमारा ममेरा भाई लगता है।

नेपाल : तो ले आ न अपने मामा के सहित उसे, तेरे दफेदार का कचूमर न निकाल दूं तो कहना !

हारू : सुना न तुम लोगो ने ?

गणेश और कन्हैया : अरे छोड़ भी। चल, अब घर चलें। आज किसी काम मे जी ही नही लगता। अब अपनी मसखरी खतम कर !

हारू · यह भी कोई मसखरी है ! मेरे मामा का नाम लगाकर मसखरी ! हमारे दफेदार के खास बाप को लेकर—

गणेश और कन्हैया · अरे छोड़ भी ! तू अपने बाप के साथ खुद ही मर जा !

(सबका प्रस्थान)

(रघुपति, नयनराय, और जयसिंह का प्रवेश)

रघुपति : माता पर भक्ति नही क्या कुछ तुम्हारी है ?

नयनराय : साहस किसे है बात ऐसी कहे मुझसे ?
जन्म मैंने पाया है प्रसिद्ध भक्त-वश मे।

रघुपति : धन्य, धन्य ! तब तुम सेवक हो माता के,
अपने ही जन हो।

नयनराय : जो मातृ-भक्त उनका
दास हूँ मैं।

रघुपति : धन्य ! भक्ति ऐसी ही बनी रहे।
भक्ति यह शक्ति दे तुम्हारी दो भुजाओ मे
अक्षय, कि भक्ति यह खरतर धार दे
असि को तुम्हारी वह वज्र-जैसा तेज दे।
भक्ति यह उर मे तुम्हारे बसे सर्वदा,

पद से, मर्यादा से, सभी से बड़ी बन के।

नयनराय : व्यर्थ नहीं जायगा आशीप द्विजवर का।

रघुपति : सुनो तब सेनापति, माता के लिए करो
सैन्य-शक्ति एकत्रित, विद्रोही के नाश को।

नयनराय : जो आदेश प्रभु ! माँ का शत्रु वह कौन है ?

रघुपति : गोविन्दमाणिक्य !

नयनराय : अपने ही महाराज है ?

रघुपति : सेना लेके अपनी चढाई करो उस पर।

नयनराय : छी, छी, कैसा पापपूर्ण यह परामर्श है !
प्रभु ! आप यह क्या परीक्षा मेरी ले रहे ?

रघुपति : सत्य ही परीक्षा यह ! भृत्य तुम किसके
इस वार इसकी परीक्षा होने वाली है।
छोड़ो चिन्ता, छोड़ो द्विधा, समय नहीं रहा
प्रलय के शृंग-सी ध्वनित आज्ञा देवी की—
बंधन सभी हैं आज छिन्न-भिन्न हो चुके।

नयनराय : कोई चिंता, कोई द्विधा नहीं मेरे मन में,
देवी ने दिया है मुझे भार जिस पद का,
उस पर अटल, अचल हूँ मैं सर्वदा।

रघुपति : धन्य सेनापति !

नयनराय : जननी के सेवको मे मैं
इतना नराधम हूँ ! आज्ञा मुझे होती है
ऐसी ! मै बनूंगा हता राजा के विश्वास का !
उर के विश्वास-बल पर विश्व-माता भी
स्वय खड़ी है ! कैसे अपने ही मुँह से
देवी कहेगी कि चूर-चूर करो मेरे ही
अटल आसन को ? कि आज बारी राजा की
यदि तो पुनः कल देवी चली जायँगी—
मानवता टूटकर होगी खंड-खड फिर
जीर्ण-भित्ति अट्टालिका के समान पल में।

जयसिंह : धन्य सेनापति, धन्य !

रघुपति : धन्य हो अवश्य ही।
किन्तु यह भ्राति कैसी हो रही है तुमको !
राजा जो विश्वासघाती माता के निकट है
बधन विश्वास का कहाँ है सग उसके ?

नयनराय : व्यर्थ तर्क करने से लाभ होगा क्या भला ?
चाहता न पडना मैं बुद्धि के विपाक मे।
जान पाया मैं तो अब तक पथ एक ही—
और वह पथ है विश्वास का ही सर्वदा।
अधम अबोध यह भृत्य उसी सीधी-सी—
राह पर चलता चलेगा चिरकाल तक।

(प्रस्थान)

जयसिंह : चिता कैसी देव ? इसी भाँति हम सब भी
बल ले विश्वास का करेंगे काम अपना।
भय किसका है ? किसे सैन्य-बल चाहिए ?
अस्त्र किस काम का ? मिला है जिसे भार जो,
शक्ति उसमे है वह काम कर लेने की।
सच्चे यदि होगे हम सेवक जननि के
माँ की पूजा करके रहेगे। प्रभु, चलिये
डंका बजा पुरवासियो को लें पुकार हम,
मुक्त करे मदिर का द्वार—अजी, आओ, तुम,
आओ, सब आओ, चले आओ, भयहीन हो
पूजा होगी अभया की, सतानो ! जननि की !
आओ पुरवासी ! न विलंब करो अब भी।

(जयसिंह और रघुपति का प्रवेश)
(पुरवासियों का प्रवेश)

अक्रूर . अजी, आओ, चले आओ।

सभी : जय माँ जगदवे !

हारू : आओ जी, माँ के सामने हाथ उठाकर नाचे-गाएँ।

गीत–३

रण में नाचें माता काली
हम सब उनके संग
अँधियारा कर दिशा-दिशा में
दिगंबरी है मत्त नशा में
लाल जीभ पर आग जल रही मरने चले पतंग॥
नभ में काले केश उड़ रहे
तृषित सोम-रवि किधर मुड़ रहे
झरे देह से रक्त, देख कंपित त्रिभुवन भ्रू-भंग॥

सभी : जय माँ, दिगबरी !

गणेश : अब कोई डर नही है।

कन्हैया : अजी, उधर दक्खिन की ओर जो लोग थे, वे अब कहाँ चले गए ?

गणेश : वे पट्ठे माँ की महिमा नही सह सके। भाग गए।

हारू : सिर्फ माँ की महिमा ही नही, मैंने भी उनको ऐसा धमका दिया है कि वे फिर इधर का रुख भी न करेगे। समझे अक्रूर भैया, मैंने ज्यो ही अपने ममेरे भाई दफेदार का नाम लिया, उन सबका चेहरा फक् पड गया।

अक्रूर : उस दिन अपने निताई ने भी उनको खूब कड़ी-कड़ी चार बाते सुना दी। जिसका छछूंदर की तरह मुँह था न, वह साला चढ़कर जवाब देने आया था, अपने निताई ने कहा—"ओ रे, तू तो दक्खिन का रहने वाला है, उत्तर की क्या जानता है ? उत्तर देने तो आया है, लेकिन उत्तर की जानता क्या है ?" सुनकर हँसते-हँसते वे सब लोट-पोट हो गए।

गणश : इधर यह भलामानस है, लेकिन बातचीत मे निताई के साथ पार पाना मुश्किल है।

हारू . निताई मेरा फूफा लगता है।

कन्हैया : जरा इसकी बात तो सुनो ! भला निताई तेरा फूफा कब से हो

हारू : तुम लोग तो हर वात मे मेरी ज़बान पकड़ने लगे हो। अच्छी वात है, फूफा नही है तो न सही। इससे तुम्हे क्या सुभीता हो गया? मेरा नही तो क्या तुम्हारा फूफा हो गया?

[रघुपति और जयसिंह का प्रवेश]

रघुपति . मैंने सुना, सेना आ रही है। जयसिंह तुम अस्त्र लेकर यही खड़े रहो। तुम लोग भी आओ—आकर इधर खड़े हो जाओ। मन्दिर के फाटक पर पहरा देना होगा। मैं तुम लोगो के लिए हथियार लिये आता हूँ।

गणेश · हथियार का क्या होगा पुरोहित जी?

रघुपति : माँ की पूजा वन्द कराने के लिए राजा की सेना आ रही है।

हारू : सेना आ रही है? तव तो हम लोग चले पुरोहित जी। पालागन!

कन्हैया : मुट्ठी-भर ही तो हैं हम लोग, सेना के आने पर क्या कर सकेंगे?

हारू : कर तो सव-कुछ सकते हैं, लेकिन सेना के आने पर यहाँ जगह कहाँ रह जायगी? लड़ाई तो वाद की वात है—यहाँ खड़े कहाँ होगे?

अक्रूर : रहने दे तू अपनी वात। देखता नही, पडित जी गुस्से से काँप रहे है? अच्छा पुरोहित जी, हुक्म हो तो हम लोग जाकर अपने सारे लाव-लश्कर को वुला लायें।

हारू : यही अच्छा है। मैं वात-की-वात मे अपने ममेरे भाई को वुला लाऊँगा। लेकिन ज़रा भी देर करना ठीक नही है।

[सभी जाने को उद्यत होते है।]

रघुपति . (क्रोध से) ठहरो तुम लोग!

जयसिंह : (हाथ जोडकर)

जाने दें प्रभो! इन्हें, ये भीत प्राण-भय से
वुद्धि-हीन है ये पहले ही से मरे हुए।
सैनिक हूँ माँ का मैं, कि मेरी एक देह मे
वल है सहस्र सैनिकों का; प्रयोजन है
अव अस्त्र का भला क्या? भीरुओ को जाने दे।

रघुपति · समय रहा न वह! अव अस्त्र चाहिए।

छूंछी भक्ति से न अब काम चल पाएगा।

(प्रकट)

वलि लाओ जयसिंह, पूजा करूँ माता की।

[बाहर बाजों की आवाज़ सुन पडती है।]

जयसिंह : सेना नही प्रभु, पूजा आ रही है रानी की।

[रानी के अनुचरों और पुरवासियों का प्रवेश]

सभी : अरे भाई, कोई डर नही है। सेना कहाँ, यह तो महारानी की पूजा आ रही है।

हारू : सेना को हम लोगों के यहाँ होने की खबर मिल गई है। अब जल्दी इधर आने की हिम्मत उसे नही होगी।

कन्हैया : पुरोहित जी, रानी-माँ ने पूज़ा भेजी है।

रघुपति : जयसिंह, शीघ्र ही पूजा का आयोजन करो!

[जयसिंह का प्रस्थान]

[पुरवासी नाचते-गाते है। गोविन्दमाणिक्य का प्रवेश]

गोविन्द : चले जाओ यहाँ से। ले जाओ बलि-पशु को
रघुपति, तुमने क्या आदेश सुना नही
मेरा?

रघुपति : नही सुना है।

गोविन्द : तो तुम इस राज्य के
नही हो?

रघुपति : नही हूँ मैं। परन्तु जहाँ हूँ, वहाँ
आने से खिसक जाता राजदण्ड राजा के
हाथ से, मुकुट लोटता है भूमि-धूल पर!
कौन है, ले आओ माँ की पूजा!

[बाजे बजते हैं]

गोविन्द : चुप ही रहो।

[अनुचरों से]

सेनापति हैं कहाँ, बुलाओ उन्हें शीघ्र ही!
हाय पुरोहित, सेना लेके मुझे अन्त मे
घेरना पड़ा है धर्म को, कि लाज लगती

सेना को बुलाने में, भुजाओं की अशक्तता
इससे स्मरण होती बार-बार मुझको।

रघुपति : अविश्वासी, धारणा तुम्हारी सचमुच क्या,
कलिकाल में न ब्रह्म-तेज रहा, इससे
दुःसाहस इतना हुआ है ? पर भूले हो
वह है गया नहीं अभी भी। अग्नि दीप्त जो
अन्तर में जलती, तुम्हारे सिंहासन को
निश्चय जलायेगी; नहीं तो मैं अनल में
मन के जला के राख कर दूँगा शास्त्र सब,
सारा ब्रह्मगर्व, कोटि तैंतीस मिथ्या भी।
आज नहीं महाराज, और किसी दिन ही
एक बार फिर यह दिन याद करना।

[नयनराय और चाँदपाल का प्रवेश]

गोविन्द : (नयनराय से)
सेना के सहित सेनापति, यहाँ ठहरो
होने न दो जीव-बलि !

नयनराय : प्रभु ! क्षमा-दान दें
अक्षम किंकर को कि इस देव-पीठ में
राज-भृत्य होकर भी असमर्थ ही हूँ मैं
जहाँ तक जा सके प्रताप महाराजा का
छाया के समान हम वहाँ तक जाते हैं।

चाँदपाल : रुको सेनापति, दीप-शिखा एक ठौर पर
रहती है, दीपालोक जाता किन्तु दूर तक।
जायगी राजा की इच्छा जहाँ तक, हम भी
जायँगे वहाँ।

गोविन्द : परन्तु सेनापति, ठहरो
मेरी आज्ञा तुम्हारे विचाराधीन है नहीं।
धर्माधर्म, हानि-लाभ जो हो, वह मेरा है,
मात्र एक कार्य ही तुम्हारे हाथ रहता।

नयनराय : हृदय नहीं है यह बात किन्तु मानता।

महाराज, भृत्य हूँ भले ही, हूँ मनुष्य भी।
बुद्धि भी है, धर्म है, है आप, देवता भी है।

गोविन्द : तब तुम अस्त्र-शस्त्र सारे अभी डाल दो।
चाँदपाल, तुम हुए सेनापति अब से—
दोनो ही पदो के अब तुम अधिकारी हो।
सावधान होके सेना-संग रक्षा करना
मन्दिर की।

चाँदपाल : जैसा हो आदेश महाराज का।

गोविन्द : अस्त्र अपने दे दो नयन, चाँदपाल को।

नयनराय : महाराज, चाँदपाल को क्यो अस्त्र दूंगा मैं
अस्त्र-शस्त्र ये दिये थे पुरखो ने आपके
मेरे पुरखों को। यदि चाहते हैं लौटाना,
आप ही लें। स्वर्ग के निवासी मेरे पुरखो !
साक्षी रहो इसके कि जिस विश्वास को
इतने दिनों तक निभाया बड़े यत्न से
साग्निक की पुण्य-अग्नि के समान तुमने,
आज वह थाती जिसकी थी उसे सौपता
रहित कलंक से।

चाँदपाल : क्या बात है !

नयनराय : धिक्कार है !
चुप रहो। महाराज, विदा लेता अब मैं ?
[प्रणाम करके जाता है।]

गोविन्द : काम नही क्षुद्र स्नेह का है राज-काज में।
देव-कार्य-भार तुच्छ मानव के कर मे।
कितना कठिन !

रघुपति : ब्रह्मशाप इसी भाँति से
होता है सफल, दूर-दूर चला जाता है।
क्रम से विश्वासी उर, स्थान खड़ा होने का
सामने पलक पर खण्ड-खण्ड होता है।

[जयसिंह का प्रवेश]

जयसिंह : हो गया सम्पन्न आयोजन सभी पूजा का
प्रस्तुत है वलि ।

गोविन्द : वलि कैसी ? किसके लिए ?

जयसिंह : महाराज, आप यहाँ ? एक निवेदन है—
प्रार्थना एकान्त करता हूँ पद-तल मे ।
प्रभु ! दम्भपूर्ण यह आज्ञा आप फेर लें,
होकर मनुष्य देवी को न वेर रखिए ।

रघुपति : धिक् जयसिंह ! किसके पगो मे पड़ते ?
उठो, उठो ! गुरु जिसका मैं उसके लिए
स्थान एक-मात्र इन्ही चरणो में जग में ।
मूढ, देख फिरके, क्षमा की भीख माँग ले,
धरके चरण गुरु के । कराल कालि के !
हो गया तुम्हारा क्या अध.पतन इतना,
करनी पड़ेगी पूजा राजा के आदेश से ?
पड़ी रहे पूजा, धरी रह जाय वलि भी,
देखूंगा कि राज-दर्प कब तक टिकता !
चलो जयसिंह, मेरे साथ यहाँ से चलो ।

[रघुपति और जयसिंह का प्रस्थान]

गोविन्द : विनय कहाँ है इस जग मे हे जननी !
रहे जो विचरते तुम्हारे पद तल मे,
वे भी यह सीख नही पाए अव तक हैं,
कितने हैं क्षुद्र वे । हरण कर महिमा
तुम्हारे ऐश्वर्य की, वहन करते हैं वे
अपने शरीर मे । हा, अहकार कितना !

द्वितीय अंक

पहला दृश्य

मन्दिर

(रघुपति, जयसिंह और नक्षत्रराय)

नक्षत्रराय : गुरुदेव ! किस हेतु आपने बुलाया है ?

रघुपति : देवी ने दिया था स्वप्न मुझे कल रात मे
कहा था कि तुम होगे राजा इस देश के।

नक्षत्रराय : होऊँगा राजा मै ? यह क्या है आप कहते ?
राजा मैं होऊँगा ? बात नई सुनी यह तो !

रघुपति : राजा तुम होगे।

नक्षत्रराय : होती मुझे न प्रतीति है।

रघुपति : स्वप्न होगा सत्य यह देवी का, कि पाओगे
तुम राजतिलक, सदेह नही इसमें।

नक्षत्रराय : नही है सन्देह ! फिर भी न यदि पा सकूँ ?

रघुपति : मेरी बात की भी है प्रतीति नहीं तुमको ?

नक्षत्रराय : अप्रतीति तो है नही मुझको तनिक भी
किन्तु दैव-वश यदि फिर भी न हो सकूँ ?

रघुपति : अन्यथा कभी भी यह बात हो न सकती ।

नक्षत्रराय : अन्यथा न होगी ? देखो प्रभु, किन्तु अंत मे
बात यह ठीक-ठीक जिसमे बनी रहे।
राजा होके दूर मैं करूंगा इस मंत्री को,
आँख मुझ पर पड़ी रहती है इसकी
सर्वदा, हो जैसे पितामह मेरे बाप का !
डरता बहुत उससे हूँ पुरोहित जी
समझे न, मत्री आपको ही बनाऊँगा मैं।

रघुपति : मंत्रि-पद पर लात मारता परन्तु मैं ।

नक्षत्रराय : तब होगा मंत्री जयसिंह। पुरोहित जी,

किन्तु यदि जानते है सब-कुछ तो कहे,
कव तक हो सकूँगा राजा ?

रघुपति : देवी चाहतीं
राजरक्त।

नक्षत्रराय : देवी राजरक्त चाहती है क्या ?

रघुपति . पहले दो राजरक्त लाके, बनो राजा तव।

नक्षत्रराय : किंतु वह रक्त पा सकूँगा मै भला कहाँ ?

रघुपति : गोविंदमाणिक्य का ही रक्त देवी चाहती।

रक्षत्रराय : रक्त उनका ही चाहती है, सच, देवी क्या ?

रघुपति : चचल न होओ जयसिह, स्थिर ही रहो।—
समझ गए कि नही ? तव मुझसे सुनो—
चुपके से मार उन्हे, तप्त राजरक्त वह
लाकर अर्पित करो देवी के चरण मे।
जयसिह, स्थिर रह सको न अगर तो
चले जाओ तुम किसी और ही जगह को।
समझे नक्षत्रराय, देवी का आदेश है,
राजरक्त चाहिए देवी को शेष रात्रि मे
श्रावण की ! राजभ्राता दो हो तुम, ज्येष्ठ जो
पावे छुटकारा—रक्त देना होगा तुमको।
प्यासी महाकाली है तो अव न समय है
सोचने-विचारने का।

नक्षत्रराय : हाय, पुरोहित जी !
राजरक्त रहे राजदेह मे ही, काम क्या
राज्य से मुझे है—जैसा हूं मैं वैसा अच्छा हूँ।

रघुपति : किसी भाँति मिल न सकेगा छुटकारा अव
चाहे जैसे भी हो, राजरक्त लाना होगा ही।

नक्षत्रराय : करना मुझे क्या होगा देव ! बतलाइए।

रघुपति : प्रस्तुत रहो, मैं कहूँ जब करने को जो
अविलव उसको करो। न कार्य सिद्धि हो
जब तक, मुँह तुम वंद रखो अपना।

अब तुम जाओ।

नक्षत्रराय : हे माँ, सर्वदुःख-नाशिनी !

(प्रस्थान)

जयसिंह : यह क्या सुना है मैंने, माता हे दयामयी !
बात कैसी ? सच, क्या आदेश तुम्हारा ही है—
भाई करे भाई का ही वध, विश्वजननी ?
गुरुदेव, माँ की आज्ञा कहकर आपने
ऐसी आज्ञा का किया प्रचार किस भाँति से ?

रघुपति : और है उपाय क्या !

जयसिंह : उपाय किस बात का
चाहिए प्रभो।—जननि, खड्ग नही पास क्या ?
रोष मे तुम्हारे चडि, वज्रानल है नही ?
इच्छा को तुम्हारी आज पड़ता है ढूँढना
हाय रे, उपाय; चोर के समान खोदनी
पड़ती सुरंग है रसातल में जाती-सी
कैसा यह पाप !

रघुपति : पाप-पुण्य भला तुम क्या
जानते हो ?

जयसिंह : सीखा यह मैने आपसे ही है।

रघुपति : आओ वत्स, तब तुम्हें एक शिक्षा और दूँ।
पाप-पुण्य कुछ भी नही है। कौन भ्राता है,
कौन अपना है या पराया ! कहा किसने
हत्या करना है पाप ? विश्व यह सारा है
एक महा हत्या-शाला। जानते नही हो क्या,
डालते पलक, लक्ष-कोटि प्राणी नित्य ही
सदा के लिए है मूँद लेते आँख ! किसकी
माया की है क्रीड़ा यह ? धूलि इस जग की
हत्या से सनी हुई है—प्रति पदक्षेप से
शत-शत कीट दबकर मर जाते है—
जीव वे नही है ? महाकाल विश्व-पत्र पर

लिखता निरन्तर है अक्षरो से रक्त के
जीवो का क्षणिक इतिहास ! हत्या वन में
होती है, लोकालय मे औ विहग-नीड़ मे,
कीट गह्वरो मे हत्या होती है, उदधि के
जल मे अगाध, हत्या होती नील नभ मे ।
हत्या जीविका के लिए, खेल के बहाने भी,
हत्या विना कारण के, होती अनिच्छा से भी—
चलता है सारा विश्व ताडना से हत्या की
साँस रोक भागा जा रहा है प्राण-पण से,
पल भर को भी वह रुक नही पाता है,
व्याघ्र के खदेडने से जैसे मृग भागता ।
तृपातीक्ष्ण लोलजिह्वा फैलाकर है खडी
महाकाली कालरूपिणी— कि रक्तधार है
विश्व के चतुर्दिक् से वह, फटी पडती
खप्पर मे उनके अनत ; जैसे वहती
रस-धार दाख-फल को निचोड़ देने से ।

जयसिंह : रुको, रुको, रुको !—हे मायाविनी, पिशाचिनी,
मातृहीन इस धरा-धाम मे तू आई है
माँ का छद्मवेश धर रक्तपान-लोभ से ?
क्षुधित विहग-शिशु अरक्षित नीड़ में
आशा लगा माँ की राह देखता है रहता,
लुब्ध काक पास जब आता, व्यग्र कंठ से
अंध वे शावक उसे वार-वार टेरते,
और देते प्राण गँवा हिंस्र चचुघात से—
सच वता, तू क्या उसी काक के समान है ?
प्रेम-स्नेह-दया और सब-कुछ मिथ्या है,
सत्य वस अनादि अनत हिंसा तेरी है ?
तव क्यो असीस के समान मेघ-जाल से
दग्ध धरणी के वक्ष पर है वरसती
वृष्टिधारा ? और उपलो से गल आती है

दयामयी स्रोतस्विनी मरुभूमि में भी क्यों ?
कोटि-कोटि कंटक-शिखर पर फिर क्यों
खिल उठते हैं फूल अति सुकुमार-से ?
छलते मुझे हो प्रभु ! देखना हो चाहते,
माता के चरण पर वलि दूँ हृदय की
यदि ता हृदय फाड़कर रक्त-धार-सी
मातृभक्ति मेरी वह पड़ती है या नहीं !
देखो, वह देखो, हँसती है मेरी जननी
स्नेह-परिहास से। भला तू राक्षसी ही है,
पाषाणी है, माता मेरी रक्त की पिपासिनी !
लेगी मेरा रक्त माँ ? सतानजन्म मेरा यह
इस जन्म के लिए मिटावेगी ? कि उर मे
मार लूँ छुरी ? तुझे लगेगा वडा अच्छा क्या
रक्त मेरी छिन्न शिराओ का ? अरी जननी,
सत्य ही तू राक्षसी, पाषाणी है। पुकारा क्या
गुरुदेव आपने मुझे ? मैं यह छलना
समझ गया हूँ। भक्त का हृदय दीर्ण कर
चाहते हो रक्त। वेदना जो दी थी तुमने,
यह, उसी पर माँ का पडा स्नेह-कर है।
दु:ख की अपेक्षा सुख शतगुण इसमे।
किंतु राजरक्त ! माँ को भक्ति की पिपासा है,
छी, छी, उन्हे रक्त की पिपासिनी वनाते हो ?

रघुपति : तव वलिदान यह वद ही हो।

जयसिंह : वंद हो।
नहीं गुरुदेव, आप जानते भला-बुरा
शास्त्र का विधान नहीं है सरल भक्ति का।
आँख अपने आलोक से न देख पाती है—
आता है आलोक नभ से। प्रभो, क्षमा करो,
मूढ़ता की स्पर्धा क्षमा करो इस दास की।
पाके वड़ी वेदना जो वकता रहा हूँ मैं,

क्षमा करो उसे; वतलाओ किंतु हे प्रभो !
महादेवी सत्य ही क्या राजरक्त चाहती ?

रघुपति : हाय वत्स, अविश्वास मेरे प्रति अत मे ?

जयसिह : अविश्वास ? नही, अविश्वास है कभी नही !
छोड तुम्हे, विश्वास टिकेगा कहाँ मेरा फिर ?
वासुकि के मस्तक से च्युत वसुधा-समान
शून्य से भी शून्य मे विलीन होगा वह तो।
महामाया चाहती है राजरक्त यदि तो,
राजरक्त वह मैं स्वय ही लेके आऊँगा।
भ्रातृहत्या होने नही दूंगा इसके लिए।

रघुपति : देवता की आज्ञा पाप हो ही नही सकती।

जयसिह · तब वह पुण्य लाभ मैं ही स्वय पाऊँगा।

रघुपति · वत्स, तब मै भी बात सच-सच कह दूँ।
प्यार करता हूँ तुझे प्राण से अधिक मै,
पालन किया मैंने तेरा शिशु-काल से
माँ से भी अधिक स्नेह से, नही मैं तुझको
खोने का किसी भी भाँति दु:ख सह पाऊँगा।

जयसिह : पाप होने दूंगा नही स्नेह-हित अपने
इस स्नेह पर अभिशाप नही लाऊँगा।

रघुपति अच्छा अभी रहने दो वत्स, बात होगी फिर
निर्णय करेंगे हम कल इस बात का।

[दोनों का प्रस्थान]

दूसरा दृश्य

मन्दिर

(अपर्णा गाती हुई आती है)

गीत—४

ओ मेरे पुरवासी !
कब से खड़ी द्वार पर तेरे हूँ मै आज उपासी !

अपर्णा : जयसिंह ! कहाँ जयसिंह ! नही कोई है
मंदिर मे। कौन हो खड़ा वहाँ अचल-सी
मूर्ति के समान—कुछ बोलती न चालती
जग का हरण कर लेती सार-धन हो !
हो करके कातर कंगाल जिसके लिए
राह-बाट मे है हम मारे-मारे फिरते,
वह आके आप ही तुम्हारे पद-तल मे
करता है आत्म-समर्पण, किन्तु उससे
तुम्हे क्या प्रयोजन है ? धन-सा कृपण के
गाड़ रख देती उसे मदिर के तल मे,
रखकर गोपन समस्त व्यवहार से
निर्धन जगत् के। पापाणी यह तुमको
कौन सुख देती जयसिह ? कहती है क्या,
कौन चिंता करती तुम्हारे लिए यह है—
रात-दिन किस सात्वना की सुधा प्राणो के
पात्र मे गोपन करके सचित रखती ?
ओ रे उपवासी मन, बैठा है तू किसके
उस द्वार पर, जो है वद चिर काल से ?

गीत—५

ओ मेरे पुरवासी !
कब से खड़ी द्वार पर तेरे हूँ मै आज उपासी !
देख रही हूँ सुख का मेला,
घर-घर यही खेल की वेला,
मेरा मन प्रतिपल वंशी-स्वर सुनने का अभिलाषी !

[रघुपति का प्रवेश]

रघुपति : कौन है तू मंदिर मे ?

अपर्णा : एक हूँ भिखारिनी !
जयसिंह है कहाँ ?

रघुपति : यहाँ से दूर हो जा तू
मायाविनी ! चाहती है देवी के निकट से
छीन लेना जयसिंह को अरी ओ प्रेतिनी ?

अपर्णा : मुझसे भला क्या भय देवी को ? मैं डरती
उनसे कि ग्रास सब-कुछ वे करें नही।

[गाते-गाते प्रस्थान]

गीत—६

नहीं चाहती लहूँ बहुत धन
रहना नहीं अधिक दिन, पल-छिन,
लौट जायगी वहीं, जहाँ से आई है यह दासी।
तुम सब सुख से यहाँ रहोगे
नई खुशी के संग बहोगे
कुछ भी मलिन न होगा, गृह में होगी स्मिति-आभा-सी॥

तीसरा दृश्य

मंदिर के सामने का रास्ता

(जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह · चिंता जाल दूर हो, द्विधा रहे न कुछ भी।
चिंता के नरक से है अच्छा काम करना
चाहे वह जितना भी क्रूर हो, कठोर हो।
होता अंत कार्य का, परंतु सीमा चिंता की
होती नही कहीं है, सहस्र रूप धरती

ज्यो-ज्यों वह चारो ओर ढूंढती है फिरती
पथ त्यों-त्यो लुप्त होता जाता सब ओर है।
एक भला होता है अनेक से अवश्य ही।
आप सत्य गुरुदेव, आपका आदेश भी
सत्य है, कि इगित की ओर ही तो आपके
जाता सत्य-पथ है। नही है पाप हत्या भी,
भ्रातृहत्या-राजहत्या भी न कोई पाप है।
सत्य है यही तो गुरुदेव, यह सत्य है।
सत्य यह भी कि पाप-पुण्य कुछ भी नही।
चिंता दूर हो, न आत्मदाह पास फटके
रहने दो पडा ही विवेक को, विचार को।
जा रहे कहाँ हो भाइयो, क्या निशिपुर मे
मेला लगा है कि वहाँ नृत्य होने वाला है
कूकी रमणी का ? चलो, मैं भी वहाँ चलता।
सुख कितना है इस विश्व मे, कि नारियाँ
नृत्य करती है चिंताहीन हो आनद से।
अंगो की मधुर रंग-भंगिमा छलकती
चारों ओर जैसे तट-प्लाविनी तरगिनी।
चिताहीन सुख से सभी हैं आते दौडते
चारो ओर से—कि तान उठती है गीत की
हास-परिहास वहता है, मूर्त्त होती है
शोभा धरती की उच्चता, मैं चलो चलता।

गीत—७

कौन लेगा मुझे, कौन लेगा ?
दान करने चला हूँ स्वयं को,
रिक्त, भरने चला हूँ स्वयं को,
काम-धंधा भुला और मन को गला
कौन है जो मुझे संग लेगा ?
कौन से रूप के हाट में तुम,
हो चले विश्व की बाट में तुम,

मैं पिछड़ हूँ गया, धार से भर गया,
देख सबकी खुशी, जी खिलेगा।
तोड़ बाधा सभी ओ बटोही,
लूट लो तुम मुझे आज यों ही,
भार मन का बड़ा, द्वार पर ही पड़ा
सब रहे, एक पल में कि देगा
ज्वार सब-कुछ बहा शेष जो भी रहा,
वह उदधि में सहज जा मिलेगा।
किसलिए बंधु, आवागमन है ?
कौन जाना हुआ आप्त जन है ?
कौन है जो मुझे, यों पुकारे—"तुझे
जानता, संग मेरे चलेगा ?"
एक भी बार वह, हँस खड़ा पास रह
कह सके, या उसे चीन्ह लेगा।।

(कुछ दूर से अपर्णा का प्रवेश)

वह क्या अपर्णा ! खडी होके दूर वह क्यो
सुनती अवाक्-सी कि गाता जयसिंह है।
सब-कुछ मिथ्या, सब-कुछ है प्रवचना,
हँसता इसीसे हूँ मैं और गीत गाता हूँ।
देखो, वह देखो, इसीसे तो लोग चलते
राह पर चिताहीन होके · और इससे
छोटी बात में भी बड़ा कौतुक है देखते।
हँसी-खुशी इतनी, है कौतूहल इतना,
इसीसे युवतियाँ हैं साज-सज्जा करती
इतनी। परतु यदि सत्य कही होता तो
यह सब होता ? यहाँ इतनी सहजता
से आनद बहता ? कि वेदना से तब तो
विदीर्ण धरा का अति आकुल क्रदन भी
विश्वव्यापी थमता, औ फैल जाती मूकता
चारो ओर, और चिरकाल के लिए ही तो।

वशी यदि करती रुदन वेदना से तो
फट जाती, नीरव सगीत होता उसका।
मिथ्या है, इसीसे तो है इतनी हँसी-खुशी—
क्रीड़ा और कौतुक हैं गोद मे श्मशान के,
वेदना के पास ही कही है सोता गान भी।
हिंसा-बाघिनी के खरतर नखतल की
छाया मे समस्त काम होते नित्य दिन के।
सत्य होता जो कही तो होता भला ऐसा क्या?
हा अपर्णा! सत्य न तो तुम हो, न मै ही हूँ,
होओ यही जानकर सुखी। कि विस्मय से
होकर विषण्ण, मुग्ध आँखो को उठाके क्यो
देखती हो इस भाँति? आओ सखी, चल दे
हम दोनो मिल, इस विश्व के ऊपर से
और चिरकाल तक चलते चले चले—
जैसे शून्य नभ मे दो लघु मेघ चलते।

(रघुपति का प्रवेश)

रघुपति : जयसिंह।

जयसिंह : तुमको नही मैं पहचानता।
मैं चला अदृष्ट के भरोसे राह अपनी,
जैसे और लोग भी सहस्रो यहाँ चलते।
कौन तुम, कहते मुझे हो रुक जाने को?
जाओ तुम, मैं भी लगूँ राह अब अपनी।

रघुपति : जयसिंह!

जयसिंह : सामने यही तो पथ सीधा है,
भिक्षा-पात्र हाथ मे कि सग मे भिखारिनी
इस अपनी सखी को लेके चला जाऊँगा।
कहा किसने कि राजपथ इस विश्व का
है दुरूह, है जटिल, होगा जिस भाँति भी
ढलते दिवस के पहुँच ही मै जाऊँगा
सीमा पर अन्तिम जीवन की। खो जायँगे

जाने कहाँ आचार-विचार तर्कजाल सब ।
सौंप दूंगा थके-हारे क्षुद्र नर-जन्म को
धरती की गोद मे—समष्टि मेरी यह तो
दो-चार दिनो की, गिनती की भूल-चूक कुछ,
सुख-दु ख, आशा क्षीण अपने हृदय की,
शक्तिहीनता से अपनी ही किया जिसको
भ्रष्ट और भग्न, उस जीवन के भार को
फेर के अनन्त काल के करो मे, पाऊँगा
अनन्त विश्राम मैं । यही तो ससार है,
काम क्या है शास्त्र के विधान से, क्या गुरु से ?
प्रभु ! पिता ! गुरु ! यह कह क्या रहा था मैं !
स्वप्न देखता था स्यात् । मन्दिर यही है वह
यह महावट है, खडा है दृढ़ सत्य सा,
अटल, कठिन, अति निष्ठुर यथार्थ-सा ।
आज्ञा देव ? करना है कार्य कौन मुझको ?
भूला मैं नही हूँ गुरुदेव । यह देखिये—

(छुरा दिखाकर)

स्मृति देव, आपके आदेश की अन्तर मे
हो रही है बाहर भी खरतर । आज्ञा क्या
और कुछ ? हो तो प्रभु, वह बतलाइए ।

रघुपति : मन्दिर से दूर, इस बालिका को कर दो ।
मायाविनि ! जानता तुम्हारे मोह-जाल को
जयसिंह, मन्दिर से इसे दूर कर दो ।

जयसिंह : दूर करूँ उसको ? दरिद्र वह मुझ-सी,
सगीहीन मुझ-सी, है मन्दिर की आश्रिता,
कटक-रहित पुष्प-सी है दोषहीन वह,
सुन्दर, सरल, शुभ्र, कोमल, निष्पाप है
और वेदना से अति कातर है—उसको
मन्दिर से दूर करूँ ? कर दूँगा प्रभु, मैं ।
चली जा अपर्णा ! दया-माया, स्नेह-प्रेम सब

मिथ्या है। अपर्णा, मर जा तू। यदि विश्व के
वाहर नही है कुछ और, ममतामयी
मृत्यु फिर भी है। चली जा भली अपर्णा तू।

अपर्णा : जयसिंह, तुम भी चलो कि हम दोनो ही
छोड़कर मन्दिर को सत्वर चले चलें।

जयसिंह : दोनो चले ? स्वप्न तो परन्तु यह है नही।
देखा एक वार स्वप्न मे था, यह विश्व ही
स्वप्न के समान है। इसीसे हँसा सुख से
और गाये गीत मैंने। किन्तु यह सत्य है,
वात अव कहो मत सुख की, दिखाओ मत
लोभ भी स्वतन्त्रता का—सत्य-कारागार मे
अव तो हूँ केवल मैं एक वन्दी।

रघुपति : जयसिंह।
समय नही है मीठी वातें करने का अव
दूर करो इस वालिका को अविलम्ब ही

जयसिंह : चली जा अपर्णा !

अपर्णा : भला जाऊँ किस हेतु मैं ?

जयसिंह : यही है तुम्हारा नारी-अभिमान ?

अपर्णा : है नहीं
अव अभिमान थोड़ा भी। तुम्हारी वेदना
जयसिंह, मेरी सारी व्यथा, सारे गर्व से
है वड़ी। नही है अभिमान मुझे कुछ भी।

जयसिंह : तव जा रहा हूँ मैं ही। मुख नही देखूँगा
तेरा, जव तक तू रहेगी यहाँ। चली जा।

अपर्णा : निष्ठुर व्राह्मण, धिक् तेरे व्राह्मणत्व को।
दे रही मैं क्षुद्र नारी अभिशाप तुझको,
तू न इस वन्धन से वाँध जयसिंह को
पायेगा कभी भी।

(प्रस्थान)

रघुपति : वत्स, मस्तक उठाओ तो

बोलो एक बार। प्राणप्रिय, मेरे प्राणाधिक,
स्नेह क्या नही है मेरे प्राणों में समुद्र-सा
सीमाहीन ? चाहता है आर भी अधिक क्या ?
मैं तो चिर जन्म का हितैषी। एक पल का
माया-पाश छिन्न हो तो क्लेश तुझे इतना ?

जयसिंह : प्रभु, रहने दो, मत वात स्नेह [की करो,
स्मरण मुझे है अब केवल कर्तव्य ही।
स्नेह तरु-लता-पत्र-पुष्प के समान ही
केवल है ऊपर धरा के; आता-जाता है,
सूखता है, मिटता है नये-नये स्वप्नों-सा।
प्रस्तर का स्तूप रहता हैं नीचे रात-दिन
रूढ और शुष्क, भार-सा अनन्त उर के।

(प्रस्थान)

रघुपति : जयसिंह, किसी भाँति मन पा सका नही
मैं तुम्हारा, करके उपाय छल-वल से।

चौथा दृश्य

मन्दिर का आँगन

[जनसमूह]

गणेश : जो कहो भाई, इस बार मेला वैसा भरा नही।

अक्रूर : मेला इस बार भरता कैसे ? यहाँ अब हिंदू का राज तो रहा नही —यह तो जैसे नवाब का राज हो गया। देवी की बलि ही रोक दी गई तो मेले मे लोग आते कैसे ?

कन्हैया : हमारे राजा की ऐसी मति तो नही थी भैया ! जान पड़ता है, उन्हे कुछ हवा-बतास लग गई है।

अक्रूर : लगा भी हो तो उन्हे किसी मुसलमान का प्रेत लगा होगा, नही तो वे वलि को क्यो रोक देते ?

गणेश : जो भी हो, लेकिन अब इस राज का भला नही होगा।

कन्हैया : पुरोहित जी ने तो खुद ही कह दिया है, तीन महीने के अंदर ही

सारा देश मरी से तहस-नहस हो जायगा।

हारू : तीन महीने की कौन कहे, जैसे लच्छन देख रहा हूँ, उससे तो तीन दिन की भी देर नही लगेगी। अब यही देखो न, अपना माधो ढाई बरस की बीमारी भुगतकर भी बराबर जीता चला आया, लेकिन ज्यों ही बलि बद हुई, वह मर गया।

अक्रूर : नही रे, उसको मरे तो तीन महीने हो गए।

हारू : अच्छा, तीन ही महीने सही, लेकिन मरा तो इसी साल है न ?

चिंतामणि : अजी, वही क्यो, यह कौन जानता था कि मेरे जेठ का लड़का मर जायगा ? सिर्फ तीन दिन तो बुखार आया—और ज्यो ही उसने कविराज की गोलियाँ खाईं, उसकी आँखे उलट गईं।

गणेश : उस दिन मथुरहाटी के गंज मे आग लगी तो एक भी मड़ैया न बच सकी।

चिंतामणि : अरे, इतनी बातो का भला क्या काम है ? अब यही देखो न, इस साल धान जितना सस्ता हो गया है, उतना पहले कभी नही हुआ था। कौन जाने, इस साल किसानो की तकदीर में क्या लिखा है।

हारू : अरे, देख-देख, वह राजा आ रहा है। सवेरे-सवेरे ऐसे राजा का मुँह देखना पड़ा, न जाने आज का दिन कैसा गुजरेगा। चल, हम सब यहाँ से खिसक जायँ।

(सबका प्रस्थान)

[चाँदपाल और गोविन्दमाणिक्य का प्रवेश]

चाँदपाल : सावधान होके रहें महाराज, चारो ओर
मैने आँख-कान लगा रक्खे है कि राज्य का
भला-बुरा कुछ भी छिपा न रह पाता है
मुझसे। सुना है मैने स्वय निज कानो से
आपकी हत्या के लिए गुप्त बातें करते
लोगो को।

गोविन्द : ऐ, कौन चाहता है मुझे मारना ?

चाँदपाल : कहने मे होता सकोच। भय होता है,
निष्ठुर सवाद यह सत्य के छुरे से भी
अधिक लगे न कही आपके हृदय में।

गोविन्द : निस्सकोच कहो चाँदपाल, जो हो कहना।
आघात सहन करने के लिए राजा का
कठिन हृदय होता सतत प्रस्तुत है।
कौन परामर्श करता था मेरी हत्या का ?
चाँदपाल : युवराज नक्षत्र।
गोविन्द : नक्षत्रराय ?
चाँदपाल : महाराज।
मैंने ही सुना है सब-कुछ निज कानों से।
मंदिर में रघुपति और युवराज ने
स्थिर कर ली हैं सारी बातें गुप्त रूप से।
गोविन्द : हाय रे विधाता ! स्थिर दो पलों में हो गया
बंधन जो जन्म-भर का था उसे तोड़ना।
चाँदपाल : रक्त आपका वे जाके देवी को चढ़ायेंगे।
गोविन्द : देवी को चढ़ायेंगे ? नहीं है दोष तब तो
इसमें नक्षत्र का। समझ गया मैं सब।
देवता के नाम से मनुष्य खोया करता
कितनी ही बार है मनुष्यता भी अपनी।
जाओ, तुम काम करो अपना। न भय है
मैं रहूँगा सावधान, जागरूक अब से।
[चाँदपाल का प्रस्थान]
रक्त नहीं, पुष्प ही तुम्हारे लिए लाया हूँ
महादेवी ! भक्ति ही है केवल, न हिंसा है
और न विभीषिका ही है—कि इस जग में
दुर्बल बड़े हैं असहाय, हाय जननी,
बाहुबल निष्ठुर बड़ा है, बड़ा क्रूर है,
स्वार्थ और लोभ है निदारुण बहुत ही,
अज्ञान नितांत अंध, और गर्व चलता
क्षुद्र जो हैं, रौंदता हुआ उन्हें चरण से।
स्नेह-प्रेम रहते बड़े ही क्षीण वृन्त पर
झर जाते स्वार्थ के परस से निमेष में।

तमने भी जो कहीं उठाया खड्ग जननी,
औ निकाली जीभ—अंधकार सब ओर है।
इसीलिए भाई अब रहा नहीं भाई है
सती भी हुई है वाम पति से सहज ही,
मित्र हुआ शत्रु, वासगृह भी मनुष्य का
शोणित से पंकिल हुआ है। दया-पुण्य का
निर्वासित हिंसा ने किया है। माता, अब तो
छोड़ो यह छद्म वेश। हुआ क्या न अब भी
उसका समय? अब भी क्या प्रलयंकारी
रूप ही रहेगा तुम्हारा? चतुर्दिशाओं से
उठते जो खड्ग लक्ष्य कर मेरे सिर को
चारों बाहुओं से वे क्या उठते तुम्हारे ही?
वही होगा। तब हो ऐसा ही। मुझे लगता,
स्यात् यह हिंसानल मेरे रक्तपात से
ही बुझेगा। वरा इतना न सह पायगी
हिंसा। राजहत्या! वध ज्येष्ठ का अनुज से!
उर में समस्त प्रजा के बढ़ेगी वेदना
सब भाइयों के प्राण रो पड़ेंगे पल में।
मिटेगा हिंसा का मातृवेश मेरे रक्त से
राक्षसी का रूप उसका प्रकाश पायगा।
है यही विधान यदि दया का तुम्हारी तो
ऐसा ही हो माता! इच्छा पूरी हो तुम्हारी ही।

(जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह : सच कहो चंडी, तुम्हें राजरक्त चाहिए?
कहो अभी, कहो अपने ही मुँह से, कहो
मानव की भाषा मे, कहो माँ, तुम शीघ्र ही—
सचमुच ही क्या तुम्हें राजरक्त चाहिए?

नेपथ्य से : वही चाहिए मुझे,

जयसिंह : तो महाराज, कर लें
इष्टदेव का स्मरण। पहुँचा निकट है

अतकाल आपका ।

गोविन्द　·　　　　हुआ क्या जयसिह, है ?

जयसिह　:　अपने ही कानो से सुना नही क्या आपने ?
पूछा मैंने देवी से कि राजरक्त चाहिए,
देवी ने स्वय ही कहा—"वही चाहिए मुझे ।"

गोविन्द　:　जयसिह, देवी ने नही कहा है कुछ भी,
रघुपति का ही वह परिचित स्वर था——
आड़ से कहा उन्होने ।

जयसिह　:　　　　कहा रघुपति ने ?
छिपकर आड से ? नही, मैं एक शका से
दूसरी मे फँस नही पाऊँगा सदैव यो ।
ज्यो ही तट-निकट पहुँचता हूँ, त्यो ही फिर
कोई मुझे ठेल-ठेल देता मँझधार मे ।
वह जैसे राक्षस है कोई अनजाना-सा ।
अव नही, अव और नही, वह गुरु हो
अथवा हो देवी——वात एक ही समान है ।

(छुरा निकालकर फेंकता है)

फूल लो माँ, ले लो, फूल ले लो, पाँव पड़ता
फूल से ही केवल तुम्हारा परितोष हो ।
अव नही रक्त । रक्तपात नही अव माँ !
रक्त के समान ही है ये भी जवा-फूल दो ।
मातृवक्ष फाड़के धरा का यह है खिला—
सन्तति के रक्तपात से व्यथित मेदिनी
की व्यथा के, प्रीति के समान । तुम्हे जननी,
लेना होगा इसे, लेना पड़ेगा अवश्य ही ।
रोप से तुम्हारे भयभीत नही होता मै ।
रक्त नही दूँगा, करो आँखे लाल, खड्ग भी
कर मे उठाओ, लो बुला श्मशान-सगियो
को भी, डरता न अव माता, मैं किसी से हूँ ।

(गोविन्दमाणिक्य का प्रस्थान)

(रघुपति का प्रवेश)

रघुपति : मैंने सारी बातें सुन ली हैं, नष्ट हो गया
सब-कुछ । अरे अकृतज्ञ । तूने क्या किया ?

जयसिंह : दण्ड दो मुझे प्रभो !

रघुपति : सभी तो नष्ट तुमने
कर डाला । लौटा दिया हाय, ब्रह्मशाप को
आधी राह से ही । बात गुरु की रखी नहीं ।
व्यर्थ किया देवी का आदेश । बुद्धि अपनी
समझी सभी से बड़ी । और इस भाँति से
तुमने चुकाया स्नेह-ऋण जन्म-भर का ।

जयसिंह : दण्ड दे पिता !

रघुपति : तुम्हें दूँ दण्ड भला कौन-सा !

जयसिंह : प्राण-दण्ड ही दें ।

रघुपति : नहीं, दण्ड उससे बड़ा
चाहिए तुम्हारे लिए । देवी के चरण को
छुओ ।

जयसिंह : यह छुआ ।

रघुपति : अब कहो—"राजरक्त मैं
लाके दूँगा देवी के चरण में श्रावण की
अन्तिम निशा में ।"

जयसिंह : "लाके राजरक्त दूँगा मै
श्रावण की अन्तिम निशा में देवी-पद मे ।"

रघुपति : अब तुम जाओ, माँ जननि तुम्हे बल दे ।

तृतीय अंक

पहला दृश्य

मन्दिर

(जन-समूह । रघुपति और जयसिंह)

रघुपति : तुम लोग यहाँ क्या करने आये हो ?

सभी : हम लोग देवी का दर्शन करने आये है ।

रघुपति : अच्छा ! देवी का दर्शन करने आए हो ? अब भी जो तुमलोगो की दोनो आँखे बनी हुई है, वह सिर्फ पुरखो के पुण्य-प्रताप से ही बनी है । अब देवी यहाँ कहाँ है ? वे तो यह राज्य छोडकर चली गईं । तुम लोग देवी को रख कहाँ सके ? वे चली गई ।

सभी : अरे बाप रे ! यह क्या कहते है महाराज ! हम लोगो से कौन कसूर बन पडा है ?

निस्तारिणी : मेरा भानजा बीमार था, इसीसे कई दिनो से मै पूजा करने नही आ सकी थी ।

गोवर्धन : मैने तो बहुत दिनो से अपने दो बकरे देवी को चढाने के लिए रख छोडे थे—इसी बीच राजा ने बलि ही बन्द करा दी तो मैं क्या करूँ ?

हारू : वह जो गंधमादन है न, उसने अपनी मनौती देवी को नही चढ़ाई तो देवी ने भी उसे वैसी ही सजा दी। उसकी तिल्ली बढकर नगाडा हो गई है—आज छह महीनों से बिछावन पर पडा हुआ है । यह भी ठीक ही हुआ । वह हम लोगो का महाजन है सही, लेकिन इसीलिए क्या वह देवी को धोखा दे सकेगा ?

अक्रूर : तुम लोग चुप रहो—बेकार शोर-गुल न करो । अच्छा पुजारी जी, देवी चली क्यो गईं ? हम लोगो से क्या कसूर हुआ था ?

रघुपति : देवी को तो तुम लोग एक बूँद भी खून नही दे सकते—यही तुमलोगो की भक्ति है न ?

कई लोग : राजा का हुकुम है तो हम क्या करें ?

रघुपति : राजा कौन है ? तुम क्या समझते हो कि देवी का सिंहासन राजा के सिंहासन के नीचे है ? ऐसा समझो तो इस देवी-हीन देश मे अपने राजा को ही लेकर रहो तुम लोग—मैं भी देखूँगा कि राजा कैसे तुम लोगो की रक्षा करता है।

(डरकर सभी आपस में बातें करते ह)

अक्रूर : चुप रहो। बाल-बच्चे अगर कसूर करे तो माँ उनको सजा दे, लेकिन एकबारगी छोडकर ही चली जायँ तो क्या यह माँ के करने-जैसी बात होगी ? बतलाइए क्या करने से माँ वापस आयँगी।

रघुपति : तुम्हारे राजा जब राज्य छोडकर चले जायँगे, तभी देवी फिर राज्य मे लौटेंगी।

(सभी चुप होकर एक-दूसरे का मुँह देखते हैं)

रघुपति : तो तुम लोग देवी को देखोगे ? इधर आओ। तुम लोग बहुत दूर से, बड़ी आशा लगाकर देवी का दर्शन करने आये हो, तो एक बार आँखे खोलकर देख ही लो।

(मन्दिर का द्वार खोलते हैं। प्रतिमा का पिछला हिस्सा दीख पडता है)

सभी : अरे, यह क्या ! देवी का मुँह किधर है ?

अक्रूर : अरे, माँ ने तो मुँह फेर लिया है !

सभी : देवी माता ! सामने आओ माँ ! सामने आओ। एक बार सीधी होकर खड़ी हो जाओ माँ ! कहाँ हो माँ ! कहाँ हो देवी ! हम लोग तुम्हे लौटा लायँगे माँ ! हमलोग तुम्हे छोड़ेंगे नही। हमे राजा की जरूरत नही है। चला जाय राजा। मर जाय।

(जयसिंह रघुपति के पास जाता है)

जयसिंह : प्रभु ! मैं क्या एक भी बात न बोलूँगा ?

रघुपति : नही।

जयसिंह : सन्देह का क्या कोई कारण नही है ?

रघुपति : नही।

जयसिंह : क्या सब-कुछ का विश्वास कर लूँ ?

रघुपति : हाँ।

(अपर्णा का प्रवेश)

अपर्णा : आओ जयसिंह, इस मन्दिर को छोड़ के

चले आओ शीघ्र।

जयसिंह : हुआ हृदय विदीर्ण है।

(रघुपति, अपर्णा और जयसिंह का प्रस्थान)
(राजा का प्रवेश)

प्रजागण : रक्षा महाराज, करे रक्षा हम सब की,
देवी को लौटा दे।

गोविन्द : वत्सगण, सुनो मेरी भी
इच्छा प्राणपण से यही है जननी को मैं
लौटाकर लाऊँ, जिस भाँति से भी हो सके।

प्रजागण · महाराज, जय हो, विजय सदा आपकी !

गोविन्द : याद हूँ दिलाता एक बार तुम लोगो को,
माँ के गर्भ से नही क्या तुम सब जन्मे ?
अनुभव तुमने स्वय किया है भाइयो,
माँ की स्नेह-सुधा का, सुकोमल हृदय से,
देखूँ तो, कहो न एक बार—"माता हैं नही।"
स्नेह माँ का सबसे पवित्र है, पुराना है,
सृष्टि के प्रथम पल मे था मातृ-स्नेह ही
जागकर बैठा अकेला ही नत नेत्र से
गोद लेके अपनी, तरुण संसार को।
उसी भाँति आज भी है बैठा मातृ-स्नेह वह
बनकर धीरज की प्रतिमा। सहे भी है
जाने कितने ही शोक-ताप, व्यथा-वेदना,
कितने अनादर, उपद्रव भी कितने।
देखा है दृगो के सामने ही भाई-भाई का
रक्तपात, निष्ठुरता, अविश्वास कितना—
फिर भी नि शब्द वेदना वहन करती,
बैठी वह दुर्बलो के लिए फैला गोद को,
सब भाँति से जो निरुपाय, उसके लिए
अन्तर के स्नेह और प्रेम को उँड़ेलती।
आज हम सब ने किया है अपराध क्या

ऐसा वड़ा, जिससे कि वह मातृ-स्नेह है
असीम अपार अचानक ही चला गया
मातृहीन करके अनाथ ससार को ?
वत्सगण, माताओ, कहो तो मुख खोलके
ऐसा वड़ा हमने किया है अपराध क्या ?

कुछ लोग : माँ की पूजा-वलि का निषेध किया आपने ।
वन्द हो गई है पूजा ।

गोविन्द : मैंने वद कर दी
वलि, क्या जननि मेरी इसी अभिमान से
विमुख हुई है ? महामारी आया करती,
होती भुखमरी, अनावृष्टि, आग लगती,
रक्तपात होता है—जननि तुम लोगो की
ऐसी ही है ? पल-पल क्षीण होते शिशु की
रक्षा करती है माता स्तन्य देके अपना—
वह भी क्या रक्त पीने के लिए ही उसका ?
ठौर जव तुमने दिया था निज मन मे
माँ के ऐसे अपमान को, तो क्या आजन्म के
मातृ-स्नेह-स्मृति को व्यथा न कुछ पहुँची ?
याद नही आया माँ का मुख भी क्या तुमको ?
जननी गरजती है—"रक्त मुझे चाहिए",
अनवोले दीन-हीन जीव प्राण-भय से
काँपते हैं थर-थर—रक्त के उन्माद से
दयाहीन नर-नारी चारो ओर नाचते—
यही क्या हमारी जननी का परिवार है ?
वत्सगण, चित्र क्या यही है माँ के स्नेह का ?

प्रजा : मूरख है हम, वात इतनी न जानते ।

गोविन्द : जानते नही हो ? शिशु जो है चार दिन का,
समझ न पाता और कुछ भी जो वात है,
वह भी समझता है जननी को अपनी ।
जानता है वह भी कि भयभीत होने पर

अभय मिलेगा उसे माता के समीप ही,
जानता है वह भी कि भूख जब लगती,
माँ की छातियो मे भरा दूध उसके लिए,
चोट लगती है जब, माँ का मुख देखके
ही रोता है वह। कैसी भूल मे भटकके
माँ को तुम लोग गए भूल ? न समझते
माता तो दयामयी है। समझ न सकते
पूजा जीव-रक्त से न होती जीव-माता की,
वह होती प्रीति से। समझ नही पाते क्या,
भय जहाँ होता, माँ वहाँ न टिक पाती है .
हिंसा जहाँ होती है, वहाँ न माँ ठहरती :
रक्त जहाँ गिरता जननि वहाँ ढालती
अश्रुजल अपना। दिखा दूँ किस भाँति मैं
माता के आनन पर कैसी व्यथा देखी है,
और कैसी कातर करुणा, कैसी भर्त्सना
अभिमान-भरे छल-छल-से नयन मे।
यदि मैं किसी प्रकार दिखा तुम्हे पाता तो
तुम लोग पल-भर मे ही पहचानते
अपनी जननि को। कि मन्दिर के द्वार पर
दीन वेश मे 'दया' आई कि अश्रु-जल से
माँ के सिंहासन का कलक वह पोछ दे—
और रुष्ट होके माता उसी अपराध से
चली गई—यही किया तुमने विचार है ?

(अपर्णा का प्रवेश)

प्रजा : महाराज ! आँखे खोल आप देख लीजिये,
जननी ने सन्तानो से मुँह फेर रखा है।

अपर्णा · (मन्दिर के द्वार पर चढकर)
माँ ने मुँह फेर लिया ? माँ, तनिक आओ तो
सामने हमारे, हम एक बार देख ले।

(मूर्ति को घुमाकर)

यह देखो, जननी हमारी लौट आई है।

सभी : लौट आई माता ! सचमुच लौट आई है !
जय हो जननि, जय हो, तुम्हारी जय हो !

(सब मिलकर गाते हैं)

गीत—८

हमें छोड़कर रह न सकी माँ, तुम तो रह न सकीं।
विरह गोद-छूटे शिशु का भी तुम तो सह न सकीं।।
हैं अपराध अनेक हमारे,
रोष-कषायित नयन तुम्हारे,
पल-भर को ही हुए, अन्त में तुम कुछ कह न सकी।
हमसे चरण न छीने, मुँह भी फेरे रह न सकीं।।

(सबका प्रस्थान)

(जयसिंह और रघुपति का प्रवेश)

जयसिंह : सच कहे प्रभु, आपका ही यह काम था ?

रघुपति : सच क्यो नही कहूँगा ? सत्य कहने से क्या
डरता हूँ मैं ? हाँ, काम यह मैंने ही किया।
मैंने ही घुमाया प्रतिमा का मुँह पीछे है।
कहना क्या चाहते हो ? कहो, तुम अपने
गुरु के भी गुरु हो गए हो। मेरी भर्त्सना
करोगे ? कि कोई उपदेश दोगे मुझको ?

जयसिंह : नही, कुछ भी न कहने को मेरे पास है।

रघुपति : कुछ भी नही है ? करना न कोई प्रश्न है
मुझसे ? कि मन का सन्देह दूर करने
के लिए न गुरु-उपदेश तुम्हे चाहिए ?
मन मे विच्छेद क्या तुम्हारे इतना हुआ ?
दूर तुम इतनी चले गए ? कि सुन लो,
मूढ, देवी विमुख हुई है सचमुच ही;
किन्तु क्या इसीके लिए प्रतिमा का मुख भी
घूम नही पावेगा ? जो रक्तपात करता

मन्दिर में मैं हूँ, उसे देवी पान करती,
प्रतिमा उसे कभी न पीती। राप देवी का
प्रकट न होता कभी प्रतिमा के मुख पर।
किन्तु मूर्ख जो हैं, उन्हे और किस भाँति से
समझा सकूँगा ? चाहते हैं वे नयन से
देखना उसे जो दृग से न दीख पड़ता।
सत्य को इसीसे समझाना पड जाता है
मिथ्या के ही द्वारा। मूर्ख, सत्य नहीं हाथो में
मेरे या तुम्हारे। प्रतिमा न सत्य, सत्य की
वात नहीं सत्य. लिपि सत्य नही, मूर्ति भी
सत्य नही है, न है विचार-मात्र सत्य ही।
सत्य कहाँ है—न कोई जानता है, उसका
पा भी सकता है नही। सत्य वह इससे
कोटि मिथ्या रूप में चतुर्दिक् विखरता।
सत्य है इसीसे नाम-मात्र महामाया का,
वस्तुत· अर्थ उसका है 'महामिथ्या' ही।
राजेश्वर सत्य रहता है अन्त पुर मे
प्रतिनिधि-रूप मिथ्याएँ ही किया करती
काम-काज सारे सब ओर उसके लिए।—
माथे पर हाथ देके वैठे सोचते रहा,
काम हैं वहुत-से प्रतीक्षा मेरी करते।

जयसिंह : जो तरंग तट पर लाती, लौटके वही
फिर खीच ले जाती अतल मँझधार मे।
सत्य नही, सत्य नही, कुछ भी न सत्य है,
सव कुछ मिथ्या, वस, मिथ्या एक-मात्र है।
प्रतिमा मे देवी नही हैं तो फिर हैं कहाँ ?
है नहीं कही भी वे। कहीं न हाय, देवी हैं।
जो कुछ है मिथ्या ही है। मिथ्या, तुम धन्य हो॥

दूसरा दृश्य

राजभवन का कक्ष

(गोविन्दमाणिक्य और चाँदपाल)

चाँदपाल : प्रजागण करते इधर है कुमन्त्रणा
और है उधर सेना मुगलो की बढ़ती
युद्ध-हेतु असम की ओर—पास आ गई,
दो ही चार दिन मे पहुँच यहाँ जायगी ।
प्रजागण भेजेंगे सन्देश पास उसके
आपको हटाने-हेतु राज-सिंहासन से ।

गोविन्द : मुझको हटायँगे ? है असन्तोष इतना
मुझसे ?

चाँदपाल : विनय इस सेवक की सुनिये,
महाराज, प्रजा को अगर इतना भला
लगता है पशु-रक्त, आप उसे दे वही ।
राक्षसी प्रवृत्ति यह पशु से ही पा सके
यदि तोष महाराज, उसे पाने दीजिये ।
भय से भरा हृदय रहता है सर्वदा,
जाने कब क्या हो, यह चिन्ता खाये डालती ।

गोविन्द : जानता हूँ चाँदपाल, भय चारो ओर है
और राज-काज भी है । सरिता गंभीर है,
फिर भी तरी को तट पर ले ही जाना है ।
दूत क्या प्रजा का मुगलो के पास जा चुका ?

चाँदपाल : अब तक जा ही चुका होगा ।

गोविन्द : चाँदपाल, तुम
जाओ । रहो मुगल-शिविर के समीप ही ।
वहाँ हो जो कुछ, तुम देते रहो उसका
मुझको सवाद ।

चाँदपाल : महाराज, आप भी यहाँ

रहे सावधान, शत्रु भीतर-बाहर है।

(प्रस्थान)

(गुणवती का प्रवेश)

गोविन्द : प्रिये, बड़ा सूखा, बड़ा सूना ससार है,
भीतर औ बाहर है शत्रु सब ओर ही।
तुम आओ, पास खड़ी होओ ज़रा हँसके
प्यार से तनिक देर मेरी ओर हेर लो।
अन्धकार, षड्यन्त्र, विपद्, विद्वेष के
ऊपर सुधामय तुम्हारा आगमन हो—
जैसे घोर निशा मे उदित होता चन्द्रमा।
प्रिये, चुप क्यो हो, अपराध के विचार का
क्या यही समय है? तृषार्त्त उर मरु मे
देखता मुमूर्षु के समान रह जायगा,
तुम चली जाओगी सुधा ले निज कर मे?

(गुणवती का प्रस्थान)

चली गई, हाय, यह दुर्वह जीवन है।

(नक्षत्रराय का प्रवेश)

नक्षत्रराय : (स्वगत)
जहाँ जाता कहते सभी हैं—"राजा होगे तुम?"
"राजा होगे तुम?" बात कैसे अचरज की!
बैठता अकेला, सुन पाता हूँ मैं तब भी—
"राजा होओगे तुम, राजा होगे अवश्य ही।"
लगता है कानो में बसेरा तोतो ने लिया,
जानते जो बात एक ही है सदा रटना—
"राजा तुम होगे? होगे राजा।" चलो, मानता
होऊँगा राजा ही किन्तु तुममे से कोई क्या
राज-रक्त लाके मुझे देगा भला?

गोविन्द : रायजी!

(नक्षत्रराय चौंकता है)

नक्षत्र, कहो, क्या मारना हो मुझे चाहते?

कहो सच-सच, तुम मारोगे क्या मुझको ?
बात यही रात-दिन मन मे तुम्हारे क्या
रहती है जागती ? इसीको लेके मन मे
हँस-हँस बातें करते हो तुम मुझसे,
पैरो मे प्रणाम कर, लेते हो आशीष भी,
मध्याह्न भोजन के समय एक अन्न से
भाग लेके खाते, रख बात यही मन मे ?
मारोगे कटारी मेरे उर मे ? ओ भाई रे,
जब तुम्हें लगा था कठोर इस मर्त्य का
पदाघात पहला तो खीच लिया मैंने था
अपने इसी हृदय के निकट तुमको।
शून्य कर धराधाम जिस दिन जननी
गई थी चली सदा के लिए, हाथ स्नेह से
फेरकर मस्तक पै शेष बार, तब भी
मैंने ही हृदय से लगा लिया था तुमको।
वही तुम आज मारोगे उसी हृदय मे
कठिन कटार ? रक्त-धार हम दोनो के
बहती शरीर मे है एक ही—सदा से जो
होकर पिता-पितामहो से बही आ रही;
भाइयो की एक-एक धमनी मे—तू उसी
धमनी को काट, उसी रक्त को बहायगा
भूमि-तल पर ?—बन्द करता हूँ द्वार मैं,
यह ले हमारी तलवार, वार कर दे
मेरी खुली छाती पर, पूरा मनोरथ हो।

नक्षत्रराय : क्षमा करो भैया, मुझको क्षमा का दान दो।

गोविन्द : आओ वत्स, आओ, लौट आओ इस वक्ष मे।
माँगते क्षमा हो ? किन्तु मैंने था क्षमा किया
तभी, जब मुझको मिला था सवाद यह।
तुम्हे क्षमा नहीं करने मे असमर्थ हूँ।

नक्षत्रराय : रघुपति देता है कुमंत्रणा, बचाइए

महाराज, आप मुझे उसके कवल से।
गोविन्द : भाई, तुम्हे भय अव है नही किसी का भी।

तीसरा दृश्य

अन्तःपुर का कक्ष

गुणवती : कुछ भी हुआ न, आशा की थी मैंने मन मे
यदि कुछ दिन मैं कठोर वनके रहूँ
प्रेम की तृपा से तव वे स्वय आवेंगे
वदी वनने के लिए। अहंकार इतना
मन मे था मेरे। मुँह फेरकर रहती,
वोलती न कुछ आँसू दृग से न ढालती,
शुष्क रोप केवल, केवल अवहेलना—
वीत गये दिन कितने ही इसी भाँति से।
सुना है, नारी का रोप निकट पुरुप के
केवल है शोभा-आभामय, नही उसमे
ताप—जैसे हीरे मे निहित दीप्ति रहती।
धिक् ऐसी शोभा को ! कि वज्र के समान जो
होता मेरा रोप तो प्रासाद पर गिरता,
औचक ही नीद टूट जाती महाराज की,
चूर-चूर होता राज-अहकार, रानी की
पूरी होती महिमा। उत्पन्न किया यह क्यो
मन मे विश्वास कि रानी हूँ मैं ? मैं आपके
उर की अधीश्वरी हूँ—मंत्र प्रतिदिन क्यो
यह दिया कानो मे ? बताया नही यह क्यो
मैं हूँ क्रीतदासी, किंकरी हूँ वस राजा की,
रानी मैं नही हूँ—तव आज मुझे सहसा

सहनी न होती यह चोट, यह वेदना।

(ध्रुव का प्रवेश)

जाता है कहाँ तू ?

ध्रुव : मुझे राजा ने बुलाया है।

(ध्रुव का प्रस्थान)

गुणवती : यही वह बालक है राजा के हृदय का
रत्न। अरे बच्चे, तूने ही तो है चुराया वह
आसन, जो मेरे कोख-जाये के लिए ही था।
आया नहीं मुन्ना मेरा, तूने इससे ही तो
उसके पिता के स्नेह मे बटाया भाग है।
राजा के हृदय-सुधा-पात्र से भी तूने ही
पहली अंजलि ली है—जब कभी आवेगा
राजपुत्र, तेरा ही प्रसाद वह पावेगा।
माता महामाया, यह कैसा अविचार है।
क्रीड़ा है तुम्हारी इतनी, है सृष्टि इतनी,
खेल-खेल मे ही मुझे एक शिशु दे न दो,
दे दो जननी, कि गोद मेरी भर जाय यह।
अच्छा जो लगेगा तुम्हे, दूँगी वही माता मैं।

(नक्षत्रराय का प्रवेश)

जाते कहाँ रायजी ? क्यो इस भाँति लौटते ?
भय तुम्हे इतना है किसका ? मैं नारी हूँ,
अस्त्रहीन भी हूँ, बलहीन-निरुपाय हूँ—
असहाय होकर भीषण हूँ इतनी ?

नक्षत्रराय : नही, नही, मुझको पुकारो मत,

गुणवती : क्या हुआ ?

नक्षत्रराय : राजा मै न होऊँगा।

गुणवती : भले ही मत होओ तुम,
किन्तु इसके लिए है ऐसी कूद-फाँद क्यो ?

नक्षत्रराय : राजा चिरजीवी हो, रहूँ मैं युवराज ही,
और जब भी मरूँ मैं इसी रूप मे।

गुणवती : ठीक है, मरो तुम। मरो भी किन्तु शीघ्र ही।
पूरा हो मनोरथ तुम्हारा। मैंने तो तुम्हें
पाँव पड़ करके वचाये नहीं रक्खा है।

नक्षत्रराय : अच्छा कहो, कहना तुम्हे क्या है ?

गुणवती . तुम्हारा जो
मुकुट चुराये जा रहा है चोर, उसको
राह से हटा दो। समझे कि नही ?

नक्षत्रराय : सब मैं
समझ गया, परन्तु यही नही समझा,
चोर वह कौन है ?

गुणवती : तुम्हारा वह ध्रुव ही,
पल जो रहा है महाराज की ही गोद मे,
और दिन-पर-दिन वढ़ता ही जाता है
मुकुट की ओर।

नक्षत्रराय : अरे, सच, वात ऐसी है ?
अव मैं समझ गया सव। मैंने देखा है,
शीश पर ध्रुव के मुकुट, किन्तु मैंने तो
खेल समझा था उसे,

गुणवती : खेल यो मुकुट से
काल-क्रीड़ा-सा ही है भयानक, कि इसको
चूर-चूर कर दो, नही तो स्वय तुम ही
किसी दिन इसके खिलौने वन जाओगे।

नक्षत्रराय . ठीक कहती हो, यह खेल नही अच्छा है।

गुणवती : आधी रात के समय तुम उसे आज ही
मेरे नाम से करो निवेदित चरण मे
देवी के, परन्तु गुप्त रूप से—कि उसके
रक्त से बुझेगा रोपानल महामाया का,
स्थायी होगा सिंहासन इस राजवश में—
पुरखे करेंगे सभी मगल की कामना।
समझे न वात ?

नक्षत्रराय : मैंने सब-कुछ समझा।
गणवती : तब जाओ, करो जो कहा है मैंने तुमसे,
स्मरण रहे कि बलि मेरे नाम से ही हो।
नक्षत्रराय : ऐसा ही करूँगा। यह कैसा सर्वनाश है।
खिलवाड़ राजा के मुकुट से !—जननि की
तृप्ति, रक्षा राज्य की असीस पूर्वजन का।
बस, बस, समझ गया मैं बात सारी ही।

चौथा दृश्य

मन्दिर की सीढ़ियाँ

जयसिंह : देवी, तुम हो। अवश्य ही हो। बनी भी रहो।
सीमाहीन इस रजनी के अन्तभाग मे
मात्र कणिका भी बनकर होओ तो कहो
क्षीणतन स्वर मे भी मुझसे कि 'वत्स, हूँ।"
नही, नही, नही, देवी है नही कही यहाँ।
नही हो; परन्तु दया करके रहो। अरी
मायामयी मिथ्या, जयसिंह पै कृपा करो।
शैशव से चली आती भक्ति, जन्मकाल से
बनी हुई प्रीति भी न जीवन दे पाती है
तुझको। तू इतनी बडी है मिथ्या हाय रे !
जयसिंह, जीवन दिया है यह किसको—
सत्यशून्य, दयाशून्य, मातृशून्य मरु मे,
महाशून्य मे ही तूने फेंक दिया उसको।
(अपर्णा का प्रवेश)
अपर्णा, तू फिर आई ? बार-बार तुझको
मन्दिर के बाहर निकाला मैंने, फिर भी

घूमती है फिरती सदा ही आस-पास मे
सुख की दुराशा के समान दीन मन मे ।
यही स्यात् सत्य और मिथ्या का प्रभेद है ।—
मन्दिर मे रखता मिथ्या को बडे यत्न से,
रहकर भी है वह रहती नही वहाँ ।
सत्य को निकाल देता बड़े अनादर से
मन्दिर के बाहर; परन्तु लौट-लौटके
वह फिर आ जाता । अपर्णा, मत जाना तुम—
अब न निकालूँगा तुम्हे यहाँ से । आओ तो,
बैठें हम दोनो यहाँ । हो गई बहुत है
रात । उग आया है शशांक शुक्ल पक्ष का
वृक्ष-अन्तराल मे । चराचर सुपुप्त है—
निद्रा-विरहित हम दो ही बस यहाँ है ।
अपर्णा, विषादमयी, तुझको भी माया का
देवता क्या कोई छल गया है ? भला हमे
आवश्यकता ही क्या है देवता की ? क्यो उसे
हम बुला लाते इस छोटे-मोटे अपने
सुख के ससार मे ? समझते क्या वे भला
हम लोगो की व्यथा ? न, प्रस्तर की भाँति ही
ताकते-से रहते है केवल ये । अपने
भाइयो का प्रेम छीन, वही प्रेम देते है
हम उसे—किन्तु वह किसी काम आता क्या
उसके ? सुन्दर, सुखदायिनी धरित्री से
मुँह फेर हम उसे ताकते हैं रहते—
किन्तु वह ताकता कहाँ ? निकट उसके
माना क्षुद्र भी हैं, तुच्छ भी है, पर फिर भी
वह है हमारी माँ धरित्री, कीटवत् है
उसके समीप, फिर भी है भाई अपना;
अध-रथ-चक्र-तले अति अवहेला से
जाता है कुचलता जिन्हे, वे कुचले हुए

और उपेक्षित जन, अपने हमारे है।
आओ भाई, देव-हीन होके विना भय के
हम सब रहे और पास ही बँधे हुए।
रक्त चाहिए तुम्हे ? इसीसे तुम स्वर्ग का
छोड़के ऐश्वर्य आये इस धरातल पर ?
मानव नही है वहाँ, जीव नही कोई है,
रक्त भी नही, न व्यथा पानेवाला कोई है—
इसीसे क्या स्वर्ग से अरुचि हुई तुमको ?
और तुम आये हो यहाँ अहेर करने,
मानव के क्षुद्र परिवार ने रचा जहाँ
निर्भय विश्वास-सुख से है नीड़ अपना !
वालिका, अपर्णा, यहाँ कोई देवी है नही।

अपर्णा : तव चले आओ इस मन्दिर को छोडके।

जयसिह : आऊँगा, अवश्य आऊँगा मैं इसे छोड़के,
हाय रे अपर्णा, जाना ही पड़ेगा मुझको।
फिर भी आजन्म जिस राज्य मे रहा हूँ मैं
जा सकूँगा राज-कर उसका चुकाके ही।
रहने दो वह सब वात। देखो ताकके,
पुलकित गोमती की शीर्ण जल-रेखा है,
ज्योत्स्ना के आलोक से कल्लोल-रव उसका
एक वात को है जैसे सौ-सौ वार कहता।
नभ मे है अर्धचन्द्र—पीली पड़ी उसकी
मुख-छवि क्षीण हो गई है अति श्रान्ति से—
वहुत दिनो के जैसे रात्रि-जागरण से
नीद-भरी आँखो की पलक मुँदी आती हो।
कितना सुन्दर है ससार। हा, अपर्णा, पर
ऐसी रात मे हैं देवी नही। न रहे भले !
अपर्णा, तू जानती है कोई वात सुख की
अमृत-भरी-सी ? वस उसको ही कह तू।
सुनकर जिसे मग्न होऊँ पल-भर मे

देखकर वह शिशु-मुख याद आता है
और याद आती उस शिशु की रुलाई है।

नक्षत्रराय : अब न विलम्ब करें अधिक पुजारीजी,
डर है, न जाने कब राजा सब जान लें।

रघुपति : जान कैसे पायेंगे ? दिशाएँ सब ओर से
निद्रा से निशीथ के घिरी हैं।

नक्षत्रराय : एक बार पर
जान पड़ा जैसे छाया देखी जाने किनकी।

रघुपति . छाया वह अपने ही भय की थी।

नक्षत्रराय : रोने का
स्वर सुना मानो मैंने।

रघुपति : अपने ही डर का।
छोड़ो यह चिन्ता, आओ हम दोनो मिलके
कारणसलिल पियें, दूर निरानद हो।

(दनों मद्यपान करते हैं)

मनोभाव जब तक रहता है मन मे
तभी तक वह दीख पडता बड़ा-सा है,
कार्य-रूप मे पर बहुत छोटा होता है,
जैसे उड जाती भाप ढेर-सी तो बचता
एक बूंद ही है जल। बात कुछ भी नहीं,
पल-भर का है काम। मद्धिम प्रदीप को
एक फूंक मे ही बुझा देने भर का समय
लगेगा। जरा-सी यह प्राण-रेखा पल में
लीन होगी नींद से ही और गाढ़ी नींद में—
जैसे है चमक जाती सावन की रात मे
बिजली। बिंधा रहेगा किंतु राज-दभ मे
वज्र सदा उसके। भला यों युवराज, क्यों
म्लान होके चुपचाप एक ओर बैठे हो ?
बात नहीं मुँह मे, न रेखा ही हँसी की है
ओठो पर, इस भाँति बुझे-बुझे बैठे हो।

आओ, हम आनंदसलिल पियें छकके।

नक्षत्रराय : हो गया विलंब है बहुत। मैं तो कहता,
आज यह काम रहने ही दें। करेंगे कल
पूजा।

रघुपति : हो गया है, हाँ, विलंब तो अवश्य ही
रात शेष होने को है।

नक्षत्रराय : पग-ध्वनि सुनिये।

रघुपति : कहाँ ? मैं तो कुछ भी नही हूँ सुन पा रहा !

नक्षत्रराय : देखिये प्रकाश वह, वह शब्द सुनिये !

रघुपति : पा लिया है राजा ने संवाद स्यात्, तब तो
अब एक पल का विलंब न उचित है।

(रघुपति 'जय महाकाली' कहकर तलवार उठाता है। उसी क्षण तेज़ी से गोविन्दमाणिक्य और प्रहरीगण प्रवेश करते हैं। राजा के आदेश से प्रहरीगण रघुपति और नक्षत्रराय को पकड़ लेते हैं।)

गोविन्द : कारा में इन्हें ले जाओ, होगा न्याय इनका।

चतुर्थ अंक

पहला दृश्य

(गोविन्दमाणिक्य, रघुपति, नक्षत्रराय, सभासदगण और प्रहरी आदि)

गोविन्द : (रघुपति से)
और कुछ कहना है ?

रघुपति : नहीं, कुछ भी नहीं ।

गोविन्द : अपराध करते स्वीकार ?

रघुपति : अपराध ? हाँ,
किया अपराध मैंने है अवश्य । देवी की
पूजा कर पाया नहीं साङ्ग । मोह-मूढ हो
मैंने कर दिया है विलंब—दंड उसका
दे रही हैं देवी, तुम तो निमित्त-मात्र हो ।

गोविन्द : सुनें सब लोग यह नियम हमारा है—
पावन पूजा के छल से जो मोह-मूढ़ नर
देवता को जीव-बलि देंगे, या उद्योग भी
उसका करेंगे, अवहेला कर राजा की
आज्ञा की, मिलेगा उन्हें दंड निर्वासन का ।
रघुपति आठ वर्ष तुम्हें निर्वासित हो
रहना पड़ेगा—दूर इस राज्य-सीमा से,
सैनिक हमारे चार तुम्हें छोड़ आवेंगे ।

रघुपति : घुटने न टेके मैंने हैं किसी के सामने
छोड़कर देवी को । मैं ब्राह्मण हूँ, तुम हो
शूद्र, फिर भी मैं आज दोनो हाथ जोड़के
टेककर घुटने, करूँगा यह प्रार्थना
तुमसे कि मुझको समय दो ही दिन का
श्रावण के शेष दो दिनों का दे दो, फिर मैं

प्रथम प्रभात मे शरद के स्वय ही
छोडके तुम्हारा अभिशप्त और दग्ध यह
राज्य, चला जाऊँगा, न देखूँगा इधर फिर।

गोविन्द : अच्छी बात, दो दिनो का अवसर देता हूँ।

रघुपति : महाराज ! राज-अधिराज ! महिमा के तुम
सागर हो, हो कृपा के अवतार। धूल से
भी हूँ मैं अधम, दीन और हूँ अपात्र भी।

रघुपति : नक्षत्र, स्वीकार करो अब अपराध तुम।

नक्षत्रराय : महाराज ! अपराधी हूँ मैं। न साहस है
इतना कि भीख माँग सकूँ मैं क्षमा की भी।
(पैरों पर गिरता है)

गोविन्द : बतलाओ, किसकी कुमत्रणा मे पड़के
तुमने दिया था हाथ इस बुरे काम मे ?
कोमल स्वभाव के हो तुम, बुद्धि इतनी
कठिन तुम्हारी नही।

नक्षत्रराय : और किसको दूँ मैं
दोष ? इस पापी मुँह से मैं अब अपने
नाम किसी और का न लूँगा। एक-मात्र मैं
ही हूँ अपराधी। मैं कुमत्रणा मे अपनी
आप ही पड़ा हूँ। इस बुद्धिहीन भाई के
अपराध आपने क्षमा किये अनेक है।
उसी भाँति इस बार भी मुझे क्षमा करें।

गोविन्द : पाँव छोड नक्षत्र उठो, कि बात सुन लो,
क्षमा कर देना क्या हमारे वश मे ही है ?
न्यायकर्ता अपने ही शासन से बद्ध है,
बंदी से भी अधिक बधन मे है वह तो।
एक व्यक्ति दंड-भागी जिस अपराध से
होगा, दूसरा उसीसे छुटकारा पायगा,
क्षमता नही है ऐसी स्वय विधाता मे—
मेरी बात ही क्या—किस खेत की मै मूली हूँ ?

सभी : क्षमा करें महाराज ! भाई यह आपके ।
गोविन्द : शात रहो तुम लोग । है न कोई भाई या
हितू-मित्र मेरा, जब तक अवस्थित हूँ
इस न्यायासन पर मैं । है अपराध तो
हो चुका प्रमाणित । त्रिपुर-राज्य-सीमा से
आगे बढकर राजगृह स्नान-तीर्थ है,
जाकर वही नक्षत्रराय को है रहना
आठ वर्ष की अवधि तक निर्वासन मे ।

(प्रहरीगण नक्षत्रराय को लेकर जाना चाहते हैं । राजा सिंहासन से नीचे उतर आते हैं ।)

देके जाओ आलिंगन इस विदा-वेला का,
भाई, यह दड तो अकेला न तुम्हारा है,
यह मेरा भी है । नोक-सा बिंधेगा काँटे की
आज से ही राजगृह मेरे इस उर मे ।
मेरा आशीर्वाद सदा साथ मे तुम्हारे है
जितने दिनों तक रहोगे दूर मुझसे
देवता रहेगे सारे रक्षक बने हुए ।

(नक्षत्र का प्रस्थान)
(सभासदों के प्रति)

अब आप सभी राज-सभा छोड जाइए
कुछ देर रहना मैं चाहता एकात मे ।

(शीघ्रता से नयनराय का प्रवेश)

नयनराय : महाराज ! भीषण विपत्ति घिर आई है ।
गोविन्द : राजा क्या मनुष्य ही नही है ? हाय विधना ;
उसका हृदय है क्या तुमने गढा नही
अतिशय दीन औ दरिद्र के समान ही ?
दु:ख उसे दोगे सबके समान, बस क्या
दोगे नही अवसर आँसू ही गिराने का ?
कैसी है विपत्ति, बतलाओ मुझे शीघ्र ही ।
नयनराय : मुगलो की सेना के सहित चाँदपाल है

त्रिपुरा का नाश करने के लिए आ रहा।

गोविन्द : यह न नयनराय, तुमको उचित है।
चाँदपाल शत्रु हो भले ही, किन्तु इससे
ऐसा अपवाद उसके लिए :

नयनराय : है आपने
दड दिए इस अनुगत को बहुत-से,
किन्तु अविश्वास आज यह सबसे बड़ा
दड लगता है मुझे। क्या हुआ कि दूर हूँ
आपके चरण-कमलो से, क्या इसीलिए
किन्तु होगा मेरा अध.पात इतना बडा।

गोविन्द : एक वार फिर कहो सारी बात मुझसे
ठीक तौर से कि उसे सोच लूँ, समझ लूँ।

नयनराय : मुगलो का साथ देके चाँदपाल चाहता
आपको हटाना त्रिपुरा के सिंहासन से।

गोविन्द : मिला है संवाद तुम्हे यह किस भाँति से ?

नयनराय : जिस दिन प्रभु ने निरस्त्र किया मुझको
अस्त्रहीनता की लाज ढँकने के हेतु मैं
चला गया देशातर। जाकर सुना वहाँ,
मुगलों के साथ छिड़ने को है असम का
युद्ध अति शीघ्र। चल पड़ा मैं तुरँत ही
सैनिक का पद माँगने वहाँ के राजा से।
देखा मार्ग में कि वाहिनी मुगल की बड़ी
चली आ रही है त्रिपुरा की ओर, साथ है
चाँदपाल। ज्ञात हुआ पूछ-ताछ करके
उसकी दुरभिसधि क्या है—और तब मैं
भागा चला आ रहा हूँ आपके पदों मे।

गोविन्द : हो गया क्या यह सहसा ही ससार मे,
दो ही चार दिन तो हुए है अभी विधि हे !
धरती के किस स्थान पर छिद्र-पथ है
निकला कि जिससे समूचा नागवश ही

आ रहा है बाहर सहज रसातल से
पृथिवी के चारो ओर फण उठाता हुआ।
आ गया है प्रलय का काल सचमुच क्या,
किंतु यह समय नही है अचरज का,
सेनापति, सेना को सजाओ तुम शीघ्र ही।

दूसरा दृश्य

मन्दिर का आँगन

(जयसिंह और रघुपति)

रघुपति : गर्व नष्ट हुआ, तेज गया, ब्राह्मणत्व भी
चला गया। वत्स, अब गुरु न तुम्हारा मै।
कल मैंने गौरव से गुरु के दिया तुम्हे
सशय-रहित हो आदेश, पर आज है
अधिकार मेरा बस भीख माँगने का ही
अनुनय सहित। कि दीप्ति मेरे उर का
बुझ-सी गई है वह, जिससे बली हो मैं
तुच्छ करता था ज्योति अतुल ऐश्वर्य की,
तुच्छ मानता था सदा राजा के प्रताप को।
नक्षत्र जो टूट पडा हो, है बडा उससे
मिट्टी का प्रदीप। खोजता है उसे फिरता
मिट्टी मे खद्योत परिहास करता हुआ,
किन्तु खोजकर भी पा सकता कभी नही।
दीप प्रतिदिन बुझता है, जलता भी है—
किन्तु तारा एक बार बुझ यदि जाता है,
होता अधकार है सदा के लिए। मैं वही
चिर दीप्तिहीन हूँ, है परमायु थोड़ी-सी,
देवता का अति क्षुद्र दान, उसमे से ही

राज-द्वार पर नत-जानु भीख माँगके
मैने बस दो ही दिन की अवधि पाई है।
जयसिंह, दो दिन ये व्यर्थ न हो, देखना।
देखना, ये दो दिन कलंक निज मेटके
मर जायँ। दो दिन ये काले मुँह अपने
रँगकर राज-रक्त से ही बीत जा सकें।
चुप क्यो हो वत्स, है आदेश नही गुरु का
यह, फिर भी है तुम्हे पाला बचपन से
मैंने—मूल्य क्या न कुछ मेरे अनुरोध का?
पितृहीन का पिता हो करके नही हूँ क्या
पिता से भी अधिक मैं तेरे लिए? दुःख है
इसका ही मुझको कि इस भाँति तुझको
स्मरण दिलाना पड़ा। सहन हो सकती
कृपा-भीख, किन्तु जो अभागा भीख प्यार की
माँगता है, भिक्षुक से भी अधम वह है
भिक्षुक। हो वत्स, अब तक चुपचाप तुम?
तब एक बार और जानु यह नत हो।
आया गोद में था तब वह इतना-सा था,
छोटा घुटनो से भी था—उसीके आज सामने
यह जानु नत हो। मैं पुत्र, भिक्षा चाहता।

जयसिंह : पिता, इस दीर्ण उर मे न वज्र मारिये।
देवी राजरक्त चाहती हैं तो उन्हे वही
दूँगा मैं। जो कुछ चाहती है, वह सब ही।
ऐसा ही होगा पिता, चुकाके सारे ऋण को
जाऊँगा मैं।

रघुपति : अच्छी बात, तब ऐसा ही करो।
देवी चाहती हैं, इसी कारण से दो उन्हे।
मैं नही हूँ कोई। हाय अकृतज्ञ, देवी ने
क्या किया तुम्हारे लिए? पाला बचपन से?
रोग होने पर की तुम्हारी सेवा? और क्या

भूख लगने पर दिया था कभी अन्न भी ?
ज्ञान की पिपासा थी मिटाई ? अत मे यही
अकृतज्ञता की व्यथा हृदय फैलाके क्या
ली है देवी ने ? हा, कलिकाल ! रहने भी दो।

तीसरा दृश्य

राजभवन का कक्ष

(गोविन्दमाणिक्य बैठे है । नयनराय का प्रवेश)

नयनराय : महाराज, हो गए थे सैनिक विद्रोही जो
लौटाकर लाया हूँ उन्हे, कि रण-सज्जा भी
प्रस्तुत है। दीजिये आदेश बढूँ अब मै ।
दीजिये आशीष—

गोविन्द : चलो सेनापति, चलता
मैं भी संग तुम सबके ही युद्ध-भूमि मे ।

नयनराय : प्राण जब तक इस दास के शरीर मे
महाराज, तब तक आप हो विरत ही,
सम्मुख विपत्ति के जाकर—

गोविन्द : सेनापति हे !
सबकी विपत्ति का जो अश, उसमे से मैं
लेना चाहता हूँ अश अपना, कि सबसे
अधिक है मेरा राज-अश। आओ सैनिको,
मुझको लो अपने ही बीच। सिहासन की
दूरस्थित चूड़ा पर निर्वासित करके
वंचित समर के गौरव से करो नही
अपने नृपति को, जो भिन्न नही तुमसे ।

दूत : राह से छुड़ा लिया है मुगलो की सेना ने
जाते हुए निर्वासन मे नक्षत्रराय को।

राज-पद पर अभिषेक हुआ उनका,
संग लेके सेना आ रहे है राजधानी को।

गोविन्द : दूर हुआ टंटा, अब भय किस बात का ?
दूर हुई युद्ध की विभीषिका भी साथ ही।

(प्रहरी का प्रवेश)

प्रहर : आया एक पत्र है विपक्ष के शिविर से।

गोविन्द : हाथ की लिखावट नक्षत्र की है। स्यात् है
शांति का सन्देश !—यही स्नेह की पुकार है !
यह तो न भाषा है नक्षत्र की। है चाहता
निर्वासन मेरा, या नही तो रक्त-स्रोत मे
वह बहा देगा इस त्रिपुरा को सोने की—
देश को करेगा दग्ध, त्रिपुरा की नारियाँ
वन्दिनी बनेगी मुगलो के अन्तःपुर मे—
देखूँ, देखूँ, हाँ, यही तो लिपि है नक्षत्र की—
"महाराज गोविन्दमाणिक्य !" महाराज, हाँ,
देखो सेनापति, यह देखो, राजदंड से
निर्वासित जो हुआ, दिया है अब उसने
राजा को ही निर्वासन-दंड ! लीला विधि की
कैसी है विचित्र !

नयनराय : निर्वासन ! यह कैसा है
दुस्साहस ! युद्ध तो न शेष अभी है हुआ।

गोविन्द : यह तो नही है सेना मुगलो की। यह तो
त्रिपुरा के राजपुत्र ने किया है राजा से
मान। इसके लिए क्यो युद्ध होने जायगा।

नयनराय : राज्य का मंगल—

गोविन्द : होगा मंगल क्या राज्य का ?
खड़े होके आमने-सामने भाई, भाई के
हृदय को लक्ष्य कर मृत्युमुखी छुरिका
मारेगा, इसीसे होगा मगल क्या राज्य का ?
राज्य मे क्या केवल है सिंहासन ही—यहाँ

है गृहस्थ-जन का न घर, नही भाई है,
या कि भाईचारे का भी वंधन नही यहाँ ?
देखूं, एक बार और देख लूं—क्या यह है
उसकी ही लिपि ? यह बात नही उसकी।
मै हूँ दस्यु, मैं हूं देव-द्वेपी, न्यायहीन हूँ,
मैं हूँ इस राज्य का अमगल ! नही, नही,
बात यह उसकी नही है—जिसकी भी हो,
अक्षर तो किन्तु उसके ही है। उसीने तो
अपने ही हाथ यह बात लिख भेजी है।
विष वह चाहे जिस सर्प का हो, उसने
अपने ही अक्षरो की नोक पै लपेटके
मेरे उर मे है मारा—विधि, दड यह तो
उसने नही, है दिया तुमने भी मुझको।
निर्वासन मेरा ! हो यही, कि मैं तो उसका
होकर ही, मस्तक झुकाके, चुप रहके
सह लूंगा निर्वासन-दड उसका दिया।

पंचम अंक

पहला दृश्य

(स्थान—मन्दिर । बाहर आँधी चल रही है । पूजा की सामग्री लिये हुए रघुपति का प्रवेश)

रघुपति : इतने दिनो के बाद आज स्यात् जागी हैं
देवी । वह रोष-हुंकार ! शाप डालती
दौड़ी चली जा रही है तिमिर-स्वरूपिणी
नगर के ऊपर से । स्यात् यह सगिनी
तेरी है प्रलय की, जो दारुण बुभुक्षा की
ज्वाला से है विश्व-महातरु को डुला रही
प्राणपण से । मैं आज दीर्घ उपवास यह
तोड़ दूँगा तेरा । डाल सशय मे भक्त को
अब तक थी तू कहाँ देवी ? खड्ग अपना
यदि आप ही तू उठावेगी न तो हम क्या
उसको उठा सकेंगे ? कितना आनंद है
आज मुझे तेरा यह चडी-रूप देखके !
मान जिसका गया था, मस्तक जो नत था,
तेज पा नवीन वह ऊँचा उठ पाया है ।
सुन पड़ता है पद-शब्द वह, आ रही
पूजा तेरी । महादेवी, तेरी जय-जय हो ।

(अपर्णा का प्रवेश)

दूर हो, तू जा चली यहाँ से री मायाविनी !
सर्वनाशिनी ! तू ढूँढती है जयसिंह को ?
अरी महापातकिनी !

(अपर्णा का प्रस्थान)

! विघ्न कुसमय का
यह कैसा ! जयसिंह यदि आवे ही नही ?

नही, नही, वचन न मिथ्या होगा उसका।
जय महाकाली, सिद्धिदात्री, हे भयंकरी !--
यदि उसे वाधा मिले, वन्दी वने अन्त मे,
प्रहरी के हाथो प्राण-हानि ही हो उसकी !
जय माँ अभया, जय भक्तो की सहायिका,
जाग्रत देवी-माँ की हो जय सर्वजया की !
भक्तवत्सला की अपकीर्ति न फैले कही
इस धरा पर। हँसने न पावें शत्रुगण
शंकाहीन कौतुक से। मातृ-अहकार हो
चूर-चूर यदि सन्तान का तो कोई भी
'माता' कहकर नही तुझको पुकारेगा।
वह पद-ध्वनि ! जयसिंह ही है वह तो !
जय नरमुड-मालिनी, पाखड-दलनी,
महाशक्ति !

(शीघ्रता से जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह ! राज-रक्त है कहाँ ?

जयसिंह : राज-रक्त मेरे पास ही है, मुझे छोड़िये,
मैं करूँगा स्वय ही निवेदन।--दयामयी,
विश्वपालिका-माँ ! तुझे राज-रक्त चाहिए ?
उसके विना न तेरी प्यास वुझ पायगी
किसी भी प्रकार ? मैं भी क्षत्रिय हूँ, पुरखे
मेरे भी थे राजा, चलता है मातामह का
राजवश अव भी--है राज-रक्त मुझमे।
दूँगा यही रक्त। हो परन्तु यह रक्त ही
अंतिम माँ ! अतहीन प्यास तेरी इससे
वुझे सदा के लिए हे शोणित-पिपासिनी !

(हृदय में छुरा मारता है)

रघुपति : जयसिंह, जयसिंह ! निर्दयी, निठुर रे,
कर दिया यह सर्वनाश तूने कैसा है !
अकृतज्ञ, गुरु-द्रोही, कुलिश-कठोर तू,

स्वेच्छाचारी, पितृमर्मघाती, जयसिंह रे !
एक-मात्र प्राण मेरा, प्राणों से अधिक तू,
जीवन का मथकर लाया हुआ धन है !
जयसिंह, वत्स, गुरुवत्सल, तू लौट आ,
लौट आ, न तुझे छोड़ और कुछ चाहता।
अहंकार, अभिमान, द्विज, देवता सभी
चले जायँ। बस, एक-मात्र तू ही लौट आ।

(अपर्णा का प्रवेश)

अपर्णा : इसी भाँति पागल क्या मुझको बनायगा
जयसिंह ? कहाँ जयसिंह ?

रघुपति : आ सुधामयी !
उसको पुकार सुधाकंठ, व्यग्र स्वर से,
प्राणपण से पुकार बेटी, जयसिंह को।
तू ही ले जा पास उसे अपने, न चाहता
मैं हूँ उसे।

(अपर्णा मूर्छित हो जाती है)

(प्रतिमा के चरणों पर माथा टेककर रघुपति)

फेर दे, लौटा दे जयसिंह को !

दूसरा दृश्य

राज-भवन

(गोविन्दमाणिक्य और नयनराय)

गोविन्द : अभी से आनन्द-ध्वनि ! पहनी अभी से है
निर्लज्ज प्रासाद ने दीपों की यह मालिका !
खड़े हुए राजधानी के बाहरी द्वार पर
विजय-तोरण—ज्यों आनन्द से उठे हुए
पुलकित नगरी के कोमल दो बाहु हों।

अभी भी प्रासाद से हूँ वाहर न निकला—
छोड़ा नही सिहासन मैने। इतने दिनो
राजा था मै—किया न किसी का उपकार क्या ?
दूर नही किया क्या अन्याय कोई, और क्या
दिया है न दड मैने किसी अत्याचार का ?
निर्वासित राजा ! है धिक्कार तुझे। अपना
न्याय कर आप ही तू, अपने ही शोक से
आँसू है गिराता स्वय !
राज्य मृत्युलोक का
चला गया, किन्तु फिर भी हूँ स्वामी अपना।
हृदय-सिहासन पर आज महोत्सव हो !

(गुणवती का प्रवेश)

गुणवती : प्रियतम, प्राणेश्वर, अब क्या विलब है ?
सुन तो लिया न अब देवी के निषेध को ?
आये प्रभु ! आज रात शेष-पूजा करके
राम-जानकी-समान चलें निर्वासन मे।

गोविन्द : प्रिये, आज मेरा शुभ दिन है, भले गया
राज्य, किन्तु फिर से तुम्हे है मैंने पा लिया।
आओ, चले मंदिर मे हम दोनो देवी के—
प्रीति लेके, पुष्प लेके, अश्रु ले मिलन का,
विदा का विषाद ले विशुद्ध चले दोनो ही—
आज रक्त और हिसा का न कुछ काम है।

गुणवती : भीख एक चाहती हूँ नाथ !

गोविन्द : कहो देवी, तुम !

गुणवती : अब न पाषाण बने, राज-गर्व छोड दे,
मानना पराजय न चाहे यदि तब भी
देख मेरी व्यथा, पिघले हृदय आपका।
निष्ठुर तो आप थे कभी न प्रभु ! आपको
किसने बना दिया पाषाण ? और किसने
मेरी भाग्य-परिधि से दूर किया आपको ?

राजा से रहित रानी मुझको बना दिया !

गोविन्द : प्रिये, एक बार भी करो तो विश्वास तुम
मेरा। बिना समझे भी मेरी ओर देखके
समझो। मुझे जो प्यार करती हो उससे
समझो कि अब रक्तपात का न काम है।
मुँह फेरना न देवि, छोड़ना न मुझको,
आशा देके अब न निराश मुझे करना।—
जाना ही तुम्हे हो, जाना मुझे क्षमा करके।

(गुणवती का प्रस्थान)

चली गई। कितना कठिन और निठुर है
यह ससार !—अरे, कौन है ?—न कोई है ?
अच्छा, मैं चला। हे राजसिंहासन, दो विदा !
हे पवित्र प्रासाद, हे गोद पुरखो की, मैं
निर्वासित पुत्र, करके प्रणाम तुमको
ले रहा हूँ विदा आज सब दिन के लिए !

तीसरा दृश्य

अन्तःपुर का कक्ष

गुणवती : बजने दो बाजे, पूजा होगी आज रात को,
आज ही प्रतिज्ञा पूरी होगी मेरी। ला भला,
ला तो जवा-फूल ! अरे, तू तो खड़ी ही रही।
आज्ञा न सुनेगी ? मैं नही हूँ कोई क्या भला ?
राज्य गया, इसीलिए रानी इतनी-सी भी
मैं नही रही कि सुने आज्ञा दास-दासियाँ ?
कंकण ले यह, यह हीरे वाली कंठी ले—
आभूषण जितने भी हैं ये, इन्हे ले-ले तू।

शीघ्र जाके आयोजन कर देवी-पूजा का।
देवी, इस दासी को चरण में शरण दो।

चौथा दृश्य

मंदिर

रघुपति : देखो, भला देखो, किस भाँति खड़ा स्तूप है
जड़ प्रस्तरों का यह मूढ-सा, अबोध-सा!
अरे, मूक, पंगु, अंध औ बधिर! तेरे ही
सम्मुख व्यथित सारा विश्व रोके मरता!
महत् हृदय निज आप ही पछाड़के
तोड़ देता पाषाण-चरणों पर तेरे ही।
हाहा हाहा हाहा! यह क्रूर परिहास है
बैठा किस दानव का, मध्य में जगत् के?
जीवगण 'मा' कहके जितना पुकारते
यह उतना ही घोर अट्टहास करती,
निर्मम, निष्ठुर उपहास करती हुई।
फेर दे तू मेरे जयसिंह को। हाँ, फेर दे,
लौटा दे उसे, अरी ओ राक्षसी, पिशाचिनी!

(प्रतिमा को हिलाकर)

सुन भी तू पाती है? हैं कान तेरे? जानती
है कि तूने क्या किया? है रक्त पिया किसका?
किस पुण्य-जीवन का? स्नेह-दया-प्रीति से
भरे किस महत् हृदय का? बनी रहे
चिर काल तक इसी भाँति तू—मंदिर के
इस सिंहासन पर, गुप्त उपहास-सी
सरल भक्ति के प्रति। नित्य पूजूंगा तुझे,

चरणों में करूँगा प्रणाम, 'माता' कहके
तुझको पुकारूँगा। प्रकट न करूँगा मैं
तेरा परिचय किसी जन के भी सामने।
केवल लौटा दे मुझे मेरे जयसिंह को।
हाय, किन्तु किसके समक्ष रो रहा हूँ मैं !
दूर करो, दूर करो, दूर कर दो इसे,
इस पाषाणी को, इस हृदय-दलनि को।
एक वार वक्ष लघु हो सके जगत् का।

(रघुपति गोमती के जल में देवी की प्रतिमा को फेंक देता है।)

(मशाल और गाजे-बाजों के साथ गुणवती का प्रवेश)

गुणवती : जय महादेवी ! माँ कहाँ है महिमामयी ?

रघुपति : अव देवी हैं न कहीं।

गुणवती : गुरुदेव, उनको
लौटा दें, वुला दें उन्हें, मैं करूँगी उनकी
आज रोष-शान्ति। पूजा लेके आज आई हूँ।
त्यागकर राज्य को औ पति को भी अपने
अटल प्रतिज्ञा मैंने पूरी की है अपनी।
दया कर फेर दें देवी को, दया करके
वस इस आज की ही एक रात के लिए।
देवी हैं कहाँ ?

रघुपति : नही कही भी अव वह है।
ऊपर नही है वह, नीचे भी कही नही,
और न तो थी ही वह कभी कही पर भी।

गुणवती : प्रभु, क्या नही थी यहाँ देवी ?

रघुपति : देवी कहती
उसको हो तुम ? यदि होती इस जग मे
देवी कही भी, तो सह पाती वह क्या भला
उस दानवी को देवी कहना ? महत्त्व क्या
तव उर फाड़ रक्त निष्फल उँडेलता
मूढ़ उन प्रस्तर-पदो मे ? उसे कहती

देवी तुम ? पुण्य-रक्त पीके महाराक्षसी
वह पेट फाड़कर मर गई आप है ।

गुणवती : गुरुदेव, इस भाँति वध मत कीजिये
मेरा । फिर एक बार सच-सच कहिये,
क्या नही है देवी !

रघुपति : नही ।

गुणवती : हाय, देवी है नही ?

रघुपति : नही ।

गुणवती : देवी है नही तो और कौन है भला ?

रघुपति : कोई भी नही है, कुछ भी तो नही है कही ।

गुणवती : ले जा, फेर ले जा यह पूजा, तू भी लौट जा ।
शीघ्र बता, महाराज गये किस मार्ग से ?

(अपर्णा का प्रवेश)

अपर्णा : पिता !

रघुपति : मेरी बेटी, ओ री बेटी, मेरी पुत्रिका !
'पिता' सबोधन यह तो न तिरस्कार का ।
बेटी, जो पुकारता था इस पुत्रघाती को
पिता कह, वह इस सुधा-भरे नाम को
छोड़ गया तेरे कठ मे है, दया करके ।
अहा, यो ही एक बार और तू पुकार ले ।

अपर्णा : पिता, चलो, मन्दिर को छोड़ चले जायँ हम ।

(पुष्प-अर्घ्य लेकर गोविन्दमाणिक्य का प्रवेश)

गोविन्द : देवी कहाँ ?

रघुपति : है नही वे ।

गोविन्द : रक्त-धार कैसी है ?

रघुपति : अतिम यही है पुण्य-रक्त इस मन्दिर मे
पाप-भरे । जयसिह ने है निज रक्त से
रक्त-शिखा हिंसा की बुझा दी ।

गोविन्द : वह धन्य है ।
पुष्पांजलि इस पूजा की हूँ तुम्हे सौपता ।

गुणवती : महाराज !

गोविन्द : प्रियतमे !

गुणवती : देवी आज हैं नहीं।
आप ही हुए हैं मेरे एक-मात्र देवता।

गोविन्द : पाप चला गया। देवी आईं लौट फिर से
मेरी ही देवी में।

अपर्णा : पिता, आप लौट आइए।

रघुपति : टूटा है पाषाण—इस बार मेरी माता ने
दर्शन दिये हैं वनके सजीव प्रतिमा।
जननी अमृतमयी !

अपर्णा : पिता, चले आइए।

परिशिष्ट

इस नाटक के मूल बँगला-गीत

गीत—१

आमि एकला चलेछि ए भवे,
आमाय पथेर सन्धान के कवे?

गीत—२

आमि एकला चलेछि ए भवे,
आमाय पथेर सन्धान के कवे?
भय नेइ, भय नेइ, याम्रो आपन मनेइ
येमन एकला मधुप धेये याय
केवल फुलेर सौरभे।

गीत—३

उलङ्गिनी नाचे रणरङ्गे।
आमरा नृत्य करि सङ्गे।
दश दिक आँधार कारे मातिल दिक्‌वसना,
ज्वले वह्निशिखा राडा-रसना,
देखे मरिवारे धाइछे पतङ्गे।
कालो केश उडिल आकाशे,
रवि सोम लुकालो तरासे।
राडा रक्तधारा मारे कालो अङ्गे,
त्रिभुवन काँपे भुरुभङ्गे।

गीत—४

ओगो पुरावासी,
आमि द्वारे दाँड़ाये आछि उपवासी।

गीत—५

ओगो पुरवासी,
आमि द्वारे दाँड़ाये आछि उपवासी।
हेरितेछि सुखमेला, घरे घरे कत खेला,
शुनितेछि सारावेला सुमधुर वाँशि।

गीत—६

चाहि ना अनेक धन रव ना अधिक क्षण,
येथा हते आसियाछि सेथा याव भासि
तोमरा आनन्दे रवे नव नव उत्सवे,
किछु म्लान नाहि हवे गृहभरा हासि।

गीत—७

आमारे के निबि भाइ, सँपिते चाइ
आपनारे।
आमार एइ मन गलिये काज भुलिये
सङ्गे तोदेर निये या रे।
तोरा कोन रूपेर हाटे
चलेछिस भवेर वाटे
पिछिये आछि आमि आपन भारे।
तोदेर ऐ हासिखुशि दिवानिशि
देखे मन केमन करे।
आमार एइ वाधा टुटे
निये या लुटे पुटे—
पड़े थाक् मनेर वोझा घरेर द्वारे।
येमन ऐ एक निमेषे वन्या एसे
भासिये ने याय पारावारे॥

एत-ये आना गोना
के आछे जाना शोना—
के आछे नाम ध'रे मोरे डाकते पारे?

यदि से वारेक एसे दाँड़ाय हेसे
चिनते पारि देखे तारे॥

गीत—८

थाकते आर तो पारलि ने मा, पारलि कइ?
कोलेर सन्तानेरे छाड़लि कइ?
दोषी आछि अनेक दोषे, छिलि वसे क्षणिक रोषे,
मुख तो फिरालि शेषे, अभयचरण काड़लि कई?

चित्रांगदा

अनुवादक :
हंसकुमार तिवारी

प्रथम अंक

पहला दृश्य

अनंग-आश्रम

(चित्रांगदा, मदन और वसंत)

चित्रांगदा : तुम पंचशर हो ?

मदन : मैं मनसिज हूँ, निखिल के नर-नारी हृदय को वेदना-बंधन में खींच लेता हूँ।

चित्रांगदा : कौन-सी वेदना, कौन-सा बंधन, दासी को मालूम है वह। चरणों में प्रणाम। प्रभु, तुम कौन-से देवता हो ?

वसंत : मैं ऋतुराज हूँ।
जरा और मृत्यु ये दो दैत्य पल-पल विश्व को कंकाल-सार किया चाहते हैं। मैं उनके पीछे लगा पग-पग पर आक्रमण करता हूँ; रात-दिन चलता है वह संग्राम। मैं अखिल का वही अनंत यौवन हूँ।

चित्रांगदा : तुम्हे प्रणाम भगवन्। देव दर्शन से दासी चरितार्थ हुई।

मदन : कल्याणी, तुम्हारा यह कठिन व्रत किसलिए? तप के ताप से विवर्ण-मलिन कर रही हो अपने यौवन-प्रसून को; अनंग पूजा की ऐसी विधि नहीं। कौन हो तुम, चाहती क्या हो भद्रे ?

चित्रांगदा : यदि दया करो प्रभु, तो मेरा इतिहास सुनो। अपनी प्रार्थना फिर बताऊँगी।

मदन : सुनने को उत्सुक हूँ मैं।

चित्रांगदा : मैं हूँ चित्रांगदा। मणिपुर की राजकुमारी। मेरे पितृ-कुल में कभी पुत्री पैदा न होगी—तप से प्रसन्न होकर देव उमापति ने यह वरदान दिया था। मैंने उस महा वरदान को विफल कर दिया है। मातृगर्भ में पैठकर देवता का वह [illegible] पौरुष [illegible]

दुर्बल प्रारभ को पुरुष नही कर पाया। ऐसी ही कठिन नारी हूँ मैं।

मदन : हॉ-हॉं, सुना तो है। इसलिए पिता ने पुत्र के समान पाला-पोसा है तुमको। धनुर्विद्या सिखाई, राजदड-नीति सिखाई।

चित्रांगदा : इसीलिए पुरुष-वेष मे नित्य राज-काज करती हूँ युवराज की नाईं; मनमाना घूमा करती हूँ ; लाज, भय, अन्त पुर-निवास नही जानती , नही जानती मैं हाव-भाव, विलास-चतुराई ; तीर-कमान चलाना सीखा है, सीखा नही है केवल, देव, कि कैसे तुम्हारे पुष्प-धनु को चितवन से झुकाया जाता है।

वसत : सुनयने, उसे कोई नारी सीखा नही करती; नैन आप ही अपना काम कर लेते हैं। इसे वही समझता है, जिसके कलेजे मे चोट लगती है।

चित्रांगदा . एक दिन हिरन की खोज मे अकेली ही घने वन मे पूर्णा नदी के तट पर गई थी। पेड़ से घोड़े को बांध हिरन के पद-चिह्नो का अनुसरण करती हुई दुर्गम कुटिल वन-पथ मे पैठी। झींगुरो की झी-झी से मुखरित, नित्य-अंधकार, लता-गुल्मो से गहन-गभीर महारण्य मे कुछ दूर बढ़ी कि देखा, सँकरी पगडडी को रोके चीर-धारी एक मलिन पुरुष भूमितल पर सोया पड़ा है। अवज्ञा के स्वर मे मैंने उसे उठने को कहा, हट जाने को कहा—मगर वह हिला नही, मुडकर मेरी तरफ ताका नही। उद्धत और अधीर रोष से मैंने उसे धनुष की नोक से छेड़ा। सीधी लंबी देह तीर की गति से पल-भर मे मेरे सामने तनकर खड़ी हो गई, घी के छीटे पाते ही जैसे राख मे छिपी आग पलक मारते ही लपट ले उठती है। क्षण को, केवल क्षण को मेरी ओर निहारा—रोषभरी दृष्टि तुरत जाती रही, होंठो पर नाच गई स्निग्ध गुप्त कौतुक की हल्की-सी रेखा हँसी की—शायद मेरा बालक-रूप देखकर। पुरुषो वाली विद्या सीख, पुरुषो का वाना पहने, पुरुषो के साथ रहते हुए जिसे आज तक भूले रही, उस मुखडे को देख, आप अपने मे अटल उस मूर्ति को देख उसी घडी मैंने समझा कि मै नारी हूँ। उसी क्षण पहले-पहल मैंने अपने सामने पुरुष को देखा।

मदन : यह मेरी ही शिक्षा है सुलक्षणे ! कभी जीवन के शुभ पुण्य क्षण मे

नारी को नारी और पुरुष को पुरुष होने के लिए मैं ही सचेत किये देता हूँ। फिर क्या हुआ?

चित्रांगदा : भय-भरे विस्मित स्वर में पूछा—तुम कौन? उत्तर मिला, मैं पार्थ हूँ, कुरुवंशवर। मैं चित्र-लिखी-सी खड़ी रह गई, भूल गई प्रणाम करना। यही है पार्थ? मेरे जीवन-भर के विस्मय? सुना जरूर था कि सत्य के पालन के लिए बारह वर्षों का ब्रह्मचर्य व्रत लिये अर्जुन वन-वन भटकते फिर रहे हैं। ये वही पार्थ वीर हैं! बचपन की उमंग में जाने कितनी बार मन में मैंने सोचा, अपने भुज-बल से पार्थ की कीर्ति को निस्तेज करूँगी मैं; अचूक निशाना लगाऊँगी; पुरुष-वेष में उन्हें चुनौती दूँगी, और अपनी वीरता का परिचय दूँगी। हाय री मुग्धे, तेरी वह स्पर्द्धा कहाँ चली गई! जिस माटी पर ये खड़े हैं, उस पर की घास कहीं होती, शौर्य-वीर्य, सब-कुछ को धूल में मिलाकर उनके उन चरणों-तले दुर्लभ मरण की भागी होती।

क्या सोच रही थी, कुछ याद नहीं। पलटकर देखा, वन में वे ओझल हो गए। चौंक उठी मैं। उसी घड़ी चेतना हुई; अपने को बार-बार धिक्कारा। छिः, नादान, तूने बात नहीं की, हाल नहीं पूछा, न ही क्षमा-याचना की; बर्बर की नाईं खड़ी रह गई, तुम्हारी उपेक्षा करके चले गए वे। हाय, बच जाती मैं अगर उस समय मर गई होती!

दूसरे ही दिन सवेरे, पुरुष का बाना उतार फेंका। पहना रक्तांबर, कंकण, किंकिणी, कांची। बड़े ही संकोच के साथ ये अनभ्यस्त साज मेरे अंगों से लिपटे रहे।

छिपकर उस वन में गई; वहाँ के शिवालय में उनको देखा।

मदन : कहती जाओ आगे। मुझसे दुराओ मत। मैं मनसिज हूँ, मन के सारे रहस्यों को मैं जानता हूँ।

चित्रांगदा : ठीक-ठीक याद नहीं, मैंने फिर क्या पूछा और उन्होंने उत्तर में क्या कहा। क्षमा करो भगवन्, और न पूछो। लाज गाज हो माथे पर गिरी, फिर भी मुझे चूर-चूर न कर सकी, नारी होते हुए भी ऐसा पुरुष-प्राण है मेरा! पता नहीं, कैसे लौटी मैं घर, बौरी, कुत्सा-विह्वल-सी। उनकी अंतिम बात तप्त शूल-सी कसकती रही कानों—

वरागने, मैं ब्रह्मचर्य व्रतधारी हूँ, पति के योग्य नही।

पुरुष का ब्रह्मचर्य ! धिक्कार है मुझे, मुझसे वह भी डिगाते न बना ? तुम्हे मालूम है, मीनकेतु, कितने ऋषि-मुनियो ने अपनी आजीवन तपस्या का फल इस नारी के चरणो-तले गँवाया है। क्षत्रिय का ब्रह्मचर्य ! घर लौटकर मैने तीर-धनुप, जो भी थे, सब तोड डाले। कीणाकित जिन बाहुओ पर मुझे कभी गर्व था, निष्फल आक्रोश से उन्हे धिक्कारा। इतने दिनो के बाद मैंने समझा, नारी होकर पुरुष के मन को अगर न जीत सकी, तो सारी विद्याएँ बेकार हैं। अबला की कोमल मृणाल-भुजाएँ इनसे सौ गुनी अधिक शक्तिशाली होती है। परावलबिनी, लाज-भय से सिमटी-सिकुड़ी वह दुबली देह-लता धन्य है, धन्य है वह मुग्ध, भोली सामान्य ललना, जिसकी भीत दृष्टि से वीर्य-बल, तपःतेज हार मानता है।

हे अनगदेव, मेरे सभी दभो को तुमने पल-भर मे छीन लिया —सभी विद्या, सभी शक्ति को अपने चरणो मे झुका लिया है। अब मुझे अपना पाठ पढ़ाओ; दो मुझे अबला का बल, निहत्थो के जो है, वे अस्त्र दो।

मदन : अयि शुभे, मैं तुम्हारा सहायक बनूँगा। विश्वजयी अर्जुन को जीत-कर बदी बनाकर तुम्हारे सामने ला दूँगा। रानी होकर दड या पुर-स्कार, जो चाहे देना। विद्रोही पर शासन करना।

चित्रागदा : समय होता, तो मैं आप अकेली तिल-तिल करके उनके हृदय पर अधिकार करती; देवता की मदद नही माँगती। संगी बन साथ-साथ रहती, रणक्षेत्र मे बनती सारथी, शिकार मे होती अनुचर, शिविर के द्वार पर रात को जगकर पहरा देती, भक्त बनकर पूजती, भृत्य-रूप मे सेवा करती उनकी। क्षत्रियों का जो महाव्रत है— आर्त्तों के परित्राण में सखा-रूप मे सहायक होती। कौतूहल से एक दिन वे मुझको देखते; मन-ही-मन सोचते, कौन है यह बालक, पिछले जन्म का चिरदास, इस जन्म मे साथ लगा है मेरी सुकृति की नाईं। धीरे-धीरे उनके हृदय का द्वार खोलती और वहाँ अपना चिरस्थान ग्रहण करती। मुझे मालूम है, मेरा यह प्रेम केवल क्रदन का नही; जो नारी मौन धीरज के साथ सदा की मर्मव्यथा को

गहरी रात के आँसुओ में पाला करती है, दिन को उसे फीकी हँसी से ढके रहती है, वह आजन्म विधवा रमणी मैं नही हूँ। मेरी कामना कभी निष्फल नही हो सकती। अपने को एक वार भी अगर प्रकट कर सकूं तो वह निश्चय ही मेरे हाथो में आ जाय। हाय रे विधि, उस दिन देखा क्या उसने ! लाज से सिमटी, शकित, काँपती हुई एक नारी, वेवस, विह्वल, प्रलापवादिनी। परतु वास्तव मे मैं क्या वही हूँ ? जैसी कि हजारो नारियाँ, घर-वाहर, चारो ओर है, केवल रोने की अधिकारिणी ! मैं उससे अधिक कुछ भी नही ? परंतु हाय, अपना परिचय वड़े धीरज से, वहुत दिनो मे दिया जा सकता है—वह एक आजीवन का काम है, जन्म-जन्मांतर का व्रत। जभी तुम्हारी शरण आई हूँ, कठोर तप किया है। हे विश्वजयी देवता, हे महासुदर ऋतुराज, केवल एक, एक दिन को मिटा दो—जन्मदाता विधाता का दिया हुआ यह विना दोप का अभिशाप—नारी का कुरूप। अपूर्व सुदरी वना दो मुझे। एक वह दिन दो, उसके वाद चिर दिन मुझ पर रहा।

पहले-पहल जो उन्हे देखा, मानो पल मे अनंत वसंत ऋतु हृदय मे पैठ गई। वड़ी इच्छा हो आई थी, यौवन के उस उच्छ्वास से देखते-ही-देखते अनोखे पुलक से मेरा सर्वांग यदि लक्ष्मी के चरणो के नीचे के कमल-सा खिल पड़े ! हे वसत, हे वसत सखे, केवल एक दिन के लिए मेरी यह वासना पूरी करो।

मदन : तथास्तु।

वसत : तथास्तु। केवल एक दिन को नही, पूरे एक वर्ष तक तुम्हारे तन को घेरे वसंत की पुष्प-शोभा खिली रहेगी।

दूसरा दृश्य

वन का शिवालय

अर्जुन . किसे देखा ! यह क्या सत्य है या माया ! घने निर्जन वन मे एक निर्मल सरोवर, ऐसे ही सूने निर्जन मे, लगता है, खामोश दोपहरी मे वन-लक्ष्मियाँ स्नान कर जाया करती है, पुनमासी की गाढ़ी रात मे उसी सोए सरोवर के स्निग्ध तट पर बेखटके, सुख से अस्त-व्यस्त आँचल, आराम से सोया करती है वे ।

वही पेड की ओट मे अपराह्न बीते सोच रहा था, सोच रहा था आशैशव जीवन की बात, इस संसार का मूढ खेल, सुख-दुख, हेर-फेर, जीवन का असंतोष, इस भूतल के मनुष्य की अधरी आशा उसकी कभी न मिटने वाली दरिद्रता । इतने मे सघन पेड़ के अँधेरे मे से धीरे-धीरे वह कौन बाहर निकली—निकलकर सरोवर की सीढ़ी के श्वेत शिला पट पर खड़ी हुई ! क्या ही अनोखा रूप ! कोमल पदतल में धरातल कैसा निश्चल-सा पड़ा । अपनी निष्कलक नग्न शोभा बिखेरकर उषा का कनक-मेघ देखते-ही-देखते जैसे पूर्व पर्वत के शुभ्र शिखर पर खो जाता है, वसे ही सुख के आवेश से उसका चीर उसके अंगो के लावण्य मे खो जाना चाहता था। धीरे-धीरे वह सरोवर के तीर पर उतरी, कौतूहल से पानी मे अपने मुख की परछाई देखी । चौक उठी । थोडी ही देर मे हल्का हँसकर बायाँ हाथ पसार लापरवाही से बिखेर दिए अपने बाल; खुले केश विह्वल होकर चरणों के पास जा रहे। अँचरा हटाकर अपने अनिंदित बाहु को देखा, स्पर्श-रस से कोमल कातर, प्रेम की करुणा से सने । सिर झुकाकर खिले देह-तट पर यौवन के उन्मुख विकास को निहारा । गोरे तनु-तले आरक्तिम आलज्ज आभास को देखा । सरसी मे दोनो पाँव डुबोकर अपने चरणो की आभा देखी। अचरज की सीमा न रही, मानो यही पहली बार अपने को देखा। श्वेत शतदल ने मानो कली की आयु आँखे मूँदकर बिताई; जिस दिन सवेरे पूर्ण शोभा लिये निखरी—उसी दिन सरोवर की नील जल-

राशि मे ग्रीवा झुकाकर पहली बार अपने को देखा—दिन-भर अपने को देखता ही रह गया विस्मय से। क्षण-भर वाद, जाने किस दुःख से, होठो की हँसी खो गई, दोनो आँखे म्लान हो आई; उसने बिखरी लटो को समेटा, देह पर आँचल डाला और उसाँस भरकर धीरे-धीरे चली गई, जैसे सुनहली साँझ उदास मुँह लिये अँधेरी रात की ओर चली जाती है। मन मे सोचा, धरित्री ने अपना ऐश्वर्य खोल दिया। कामना की संपूर्णता कौधकर गुम गई। सोचा, कितने युद्ध, कितनी हिसा, कितने आडवर, पुरुपो के पौरुप का गौरव-वीरत्व की कीर्ति की नित्य प्यास—उस पूर्ण सौदर्य के आगे शांत होकर भूमि पर लोट पड़ते हैं—जैसे सिहवाहिनी के भुवन-वाछित अरुण चरण-तले झुक जाता है पशुराज सिह। एक वार अगर और—द्वार पर धक्का कौन देता है ?

(द्वार खोलकर)

अरे ! वही मूर्ति ! हृदय, शात हो।
वरानने ! मुझसे कोई डर नही। मैं क्षत्रिय-वश-जात हूँ—भीत दुर्वलो का भयहारी।

चित्रांगदा : आर्य, तुम मेरे अतिथि हो। यह मदिर मेरा आश्रम है। समझ नही पाती, कैसे अभ्यर्थना करूँ, कौन-सा सत्कार करूँ तुम्हारा।

अर्जुन : सुदरी, तुम्हारा दर्शन ही अतिथि-सत्कार है। तुम्हारे ये शिष्ट-वाक्य अपना सौभाग्य है। दोप न गिनो तो एक बात पूछूँ—वडा कौतूहल जग रहा है मन में।

चित्रागदा : निर्भय होकर पूछो।

अर्जुन : शुचिस्मिते, अभागे मर्त्यजनो को वचित करके कौन-से कठिन व्रत के लिए अपनी ऐसी रूपराशि को इस सूने देवालय मे इस लापर-वाही से नष्ट कर रही हो ?

चित्रागदा : एक गुप्त कामना की सिद्धि के लिए निमग्न हो शिव की पूजा करती हूँ।

अर्जुन : हाय, ससार की कामना की निधि, तुम किसकी कामना कर रही हो ! सुदर्शने, मैंने उदयगिरि से अस्ताचल तक का भ्रमण किया है; सातो द्वीपो मे जहाँ भी, जो कुछ भी दुर्लभ सुदर हैं, अचित्य है,

महान् है—सब-कुछ को मैंने अपनी आँखो देखा है ; तुम क्या चाहती हो, किसे चाहती हो, मुझसे कहो तो उसके बारे मे बताऊँ मैं।

चित्रांगदा : मैं जिन्हें चाहती हूँ, वे त्रिभुवन मे परिचित है।

अर्जुन : ऐसा नर धरा पर कौन है ! किसकी यश-राशि ने अमर कांक्षित तुम्हारे मनोराज्य मे दुर्लभ आसन-अधिकार किया है ? कहो, कहो, नाम बताओ उसका, सुनकर कृतार्थ होऊँ।

चित्रागदा : उनका जन्म श्रेष्ठ नरपति-कुल मे हुआ है, सर्वश्रेष्ठ वीर हैं वे।

अर्जुन : झूठी बड़ाई लोगो के मुँह से बातो-बातो मे बढ जाती है, जैसे, जब तक सूरज नही उगता, क्षण-स्थायी कुहरा छल से ऊषा को ढँक देता है। सरले, इस दुर्लभ यौवन-सपदा से भिक्षा की उपासना मत करो। कहो तो सही, पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ किस कुल का वह कौन सर्वश्रेष्ठ वीर है।

चित्रागदा : और की कीर्ति न सह सकने वाले तुम कौन हो सन्यासी ! कौन नही जानता, कुरुवश भुवन मे राजवशो का शिरोमणि है।

अर्जुन : कुरुवश !

चित्रागदा · उस वश मे अक्षययश वीरेन्द्र केशरी कौन है, नाम सुना है ?

अर्जुन : कहो, तुम्हारे मुंह से सुनूँ।

चित्रागदा : अर्जुन ! गाडीवधनु, भुवनविजयी। सारे संसार से वह अक्षय नाम लूटकर अपने कुमारी-हृदय को पूर्ण करके मैंने जतन से छिपाकर रखा है।

ब्रह्मचारी, तुम्हे यह अधीरता कैसी ? झूठ है यह ? मिथ्या है अर्जुन का नाम ? तो फिर कहो, मिथ्या हो तो अपने हृदय को तोड़कर छोड़ दूँ उसे। शून्य मे, लोगो की जीभ पर ही उड़ता फिरे वह। नारी के हृदय-आसन पर उसका स्थान नहीं।

अर्जुन : अयि वरागने, वह अर्जुन, वह पाडव, वह गांडीव, सब चरणो मे शरणागत है। उसका नाम, उसकी ख्याति, उसका शौर्य-वीर्य, मिथ्या हो, सत्य हो —तुमने जिस दुर्लभ लोक में उसे स्थान दिया है, उस लोक से अब उसे क्षीणपुण्य हृतस्वर्ग अभागे की नाई अलग मत करना।

चित्रांगदा : तुम पार्थ हो ?

अर्जुन : मैं पार्थ हूँ, देवि, तुम्हारे हृदय-द्वार पर प्रेमाकुल अतिथि।

चित्रांगदा : सुना था, अर्जुन बारह वर्षों का ब्रह्मचर्य पालन कर रहा है। वही वीर व्रत भंग करके कामिनी की कामना कर रहा है! संन्यासी! पार्थ हो तुम!

अर्जुन : मेरे व्रत को तुमने तोड़ा है, जैसे चन्द्रमा उगते ही पल-भर मे निशीथ की योग-निद्रा के अँधेरे को तोड़ देता है।

चित्रांगदा : धिक्कार है, पार्थ, तुम्हे धिक्कार! मैं कौन, है क्या मुझमे, तुमने ऐसा देखा क्या, जानते कितना हो मेरा! किसके लिए तुम भूल रहे हो अपने को! क्षण-भर मे सत्य को तोड़ अर्जुन को अनर्जुन कर रहे हो किसके लिए! मेरे लिए नही। इन दो नीलोत्पल नयनो के लिए; सत्य के बंधन को दोनो हाथों छिन्न-भिन्न करके इन दो नवनीनिंदित बाहुओं मे सव्यसाची आकर कैद हो गया है। कहाँ गई प्रेम की मर्यादा! कहाँ पड़ा रह गया नारी का सम्मान! हाय-हाय, मुझको अतिक्रम कर गई मेरी यह तुच्छ देह—मृत्युहीन अंतर का क्षण-स्थायी छद्मवेश! अब समझा मैंने, तुम्हारी ख्याति, तुम्हारी वीरता झूठी है।

अर्जुन : झूठी है ख्याति, झूठा है वीर्य, आज समझा। आज मुझे सातो लोक सपने-सा लगता है। पूर्ण हो एक अकेली तुम, सर्वस हो, विश्व का ऐश्वर्य हो! एक नारी सभी दीनताओ के चरम अवसान, सभी कर्मों के विश्राम हो! न जाने क्यो, तुम्हे देखकर अकस्मात् मैंने समझा, पहले प्रत्यूष में तम के महासिंधु में किस आनद की किरणो से पल में सृष्टि का शतदल चारो ओर निखर उठा था। और सबको पल-पल, तिल-तिल करके बहुत दिनो मे जाना जा सकता है, लेकिन तुमको जैसे ही निहारा, वैसे ही सब-कुछ देख लिया तुम्हारा—फिर भी अन्त नही पाया। एक बार शिकार से थका-हारा प्यास का मारा दोपहर के समय मैं कैलाश-शिखर पर सुमन-शोभा विचित्र मानस-तट पर गया था। उस सुर-सरोवर के पानी मे झाँककर देखा कि उसका अतल दिखाई पड़ गया। जितना ही गहरे देखूँ, स्वच्छ-निर्मल जल। दोपहर के सूर्य की रश्मि-रेखाएँ स्वर्ण-कमलो के सुवर्ण-मृणालों के साथ-साथ

अगाध-असीम को उतर गई थी; पानी की लहरों में मानो लक्ष-कोटि अग्निमयी नागिनें आड़ी-टेढ़ी काँप रही हों ! ऐसा लगा, भगवान् सूर्य ने हज़ारों उँगलियों के इशारे से जन्म से थके, कर्म से ऊबे मर्त्यवासियों को यह दिखा दिया कि अनत शीतल सुन्दर मरण कहाँ है। वही निर्मल अतलता मैंने तुममें देखी। चारों ओर से देव-अंगुलियाँ मानो मुझे यह दिखाए दे रही हों कि अलोक आलोक में तुम्हारे कीर्तिविलिप्त जीवन का पूर्ण निर्वाचन यह रहा !

चित्रांगदा : मैं नहीं, नहीं-नहीं, मैं नहीं, हाय, पार्थ. हाय, किस देवता की छलना है ! जाओ, लौट जाओ, लौट जाओ वीर ! मिथ्या की उपासना न करो। अपना शौर्य, अपना वीर्य, अपना महत्त्व मिथ्या के चरणों में न चढ़ाओ ! लौट जाओ !

तीसरा दृश्य

पेड़ के नीचे

चित्रांगदा : हाय, हाय, उसे लौटा सकती हूँ भला ! चिंगारी उगलने वाली एक होम की अग्निशिखा-जैसी वीर-हृदय की वह प्यासी, काँपती हुई थर-थर व्याकुलता; उन आँखों की दृष्टि मानो हृदय की भुजाएँ बनकर मुझे छीन लेने को आ रही हो; अंगों को तोड़कर जलता हृदय मानो दौड़कर बाहर आना चाह रहा हो, उसकी रुलाई मानो अंग-अंग में सुनाई पड़ रही हो ! इस तृष्णा को लौटा सकती हूँ मैं !

(वसंत और मदन का प्रवेश)

अनंगदेव, रूप की किस ज्वाला से तुमने घेर लिया है मुझे—जलती हूँ, जलाकर मारती हूँ मैं।

मदन : कहो-कहो तन्वी, कल की बात बताओ। सुनना चाहता हूँ, मेरे फूलों के छूटे हुए तीर ने कहाँ कौन-सा काम किया।

चित्रांगदा : कल साँझ को सरोवर के दूव-भरे मखमली तट पर वसंत के झरे पड़े पुष्पों को चुनकर सेज बिछाई थी। थकी-थकी-सी अनमनी लेटी पड़ी थी। अलसाई-सी, बाएँ हाथ पर सिर रखे कल की बात सोच रही थी। अर्जुन के मुख से जो स्तुति सुनी थी, याद कर रही थी उसे। दिन के सँजोए हुए अमृत को बूँद-बूँद करके पी रही थी; बीते जन्म की बात-से पिछले इतिहास को भुला रही थी। मैं मानो राजकुमारी नही; अपना जैसे पूर्व और पश्चात् न हो। धरती पर खिल पडी हूँ अचानक ही विजन का एक फूल मैं—मातृ-पितृहीन; केवल एक वेला की परमायु। उसी थोडे-से क्षण मे सुन लेनी है भौरो की गुजन-गीति, वन-वनात की आनद मर्मर-ध्वनि; और फिर नीचे कर लेनी होगी नीले आकाश की ओर से आँखे, गर्दन झुकाए हवा के झोके से रोए बिना ही टूटकर बिखर पड़ना होगा—आदि अंतहीन फूल की यह कहानी यही समाप्त हो जायगी अधूरी।

वसंत : एक ही प्रात मे अनत जीवन खिलता है, सुन्दरी !

मदन : जैसे संगीत मे क्षण की एक तान मे अंतहीन कथा हो उठती है। उसके बाद ?

चित्रांगदा . सोच रही थी और दक्षिणी पवन मेरे अग-अग मे नीद की लहर मार रहा था। सप्तपर्ण की डाल से खिली मालती की लता मेरे अलसाये गोरे गात पर मौन चुबन भेज रही थी। फूलो मे से किसी ने मेरे बालों मे, किसी ने पैरो-तले और किसी ने स्तन-तट पर अपनी मरण-सेज बिछाई।

बेसुध-से कुछ क्षण बीते। अचानक जाने कब ऐसा अनुभव किया मैने मानो किसी के मोहित नयन की दृष्टि दस अँगुलियो-सा जैसे रभस-लालसा से मेरे नीद से अलसाये शरीर को छू रही हो! चौंक पडी मैं।

देखा, मेरे पैरों के पास अचल मूर्ति-सा सन्यासी अपलक खड़ा है। पूर्वांचल से धीरे-धीरे खिसककर पश्चिम को ढलते हुए बारहवी के चाँद ने सारी चाँदनी उँडेल दी है मेरे उघरे हुए अमलिन नए शुभ्र सौंदर्य के ऊपर। तरुतल फूलो की सुगध से महमहा झीगुरो

के स्वर से निशीथिनी तंद्रालीन; हवा सोई हुई, चाँदनी से चिकने हुए पुज-पुज अधकार पल्लव का भार सिर पर उठाये स्तंभित पडी अटवी। उसी तरह चित्र-लिखा-सा दीर्घकाय वनस्पति के समान दंडधारी ब्रह्मचारी छाया-सहचर-सा खडा।

नीद टूटी, चारों ओर देखकर पहले तो लगा, न जाने कब किस भूले हुए प्रदोप मे जीवन को त्यागकर किस अपूरब मोह-निद्रा के जगत् मे सूने, मलिन पड़ी चाँदनी वाले वैतरणी के किनारे मैंने यह स्वप्न-जन्म पाया है। उठ खड़ी हुई। झूठे लाज-सकोच शिथिल-वसन-से चरणो मे चू पड़े। सबोधन सुना—"प्रिये! प्रियतमे!" इस गभीर आह्वान से मेरी एक देह मे जन्म, जन्म, सकडो जन्म जग उठे। मैंने कहा—लो, ले लो, जीवनवल्लभ! मेरा जो कुछ भी है, सब ले लो। मैने अपनी दोनो बाँहे फैला दी। चाँद वन मे डूब गया, अँधेरे मे ढक गई धरती। स्वर्ग-मर्त्य, देश-काल, सुख-दु.ख, जीवन-मरण सब असह पुलक से अचेतन हो गए। प्रभात की पहली किरण, विहग के प्रथम सगीत से, बाँये हाथ के सहारे धीरे-धीरे बिछावन पर उठ बैठी। देखा, वीरवर सुख से सोए है। प्रातः की चद्र-कला-सी होठो के किनारे श्रांत हँसी लगी है—रजनी के आनद का शीर्ण अवशेप; उन्नत ललाट पर आकर पडी है अरुण आभा। मर्त्यलोक मे मानो नए उदयगिरि पर नई कीर्ति का सूर्योदय निखरेगा। निश्वास छोड़कर सेज पर से उठी। सुख से सोए मुखड़े को किरणो की आड़ देते हुए सावधानी से मालती की लता को झुका दिया। देखा, चारो ओर वही पुरानी पृथ्वी है जानी-चीन्ही। अपनी याद आ गई—अपनी ही छाया से डरी हुई हरिनी-सी नए प्रात के हरसिंगार-झरी दूबो वाली वनस्थली से दौड़कर भाग आई। सूने वितान तले बैठ, हथेली से मुँह ढँककर रोना चाहा। रुलाई न आई।

मदन : हाय, मानव-नंदिनी, अपने हाथो स्वर्ग के सुख के दिन को तोडकर धरती की एक रात उससे भरकर जतन से तुम्हारे होठों के सामने रखा—रति चुंबित, शची की प्रसाद-सुधा नदन की सुगधि से मुदित मधुर—तुम्हे पिलाई मैंने; फिर भी यह रोना।

चित्रागदा : किसे, किसे पिलाई देव ! किसकी प्यास मिटाई ! वह चुवन, वह प्रेम-संगम वीणा की झंकार-सी अभी भी जिस अंग मे कॉप-कॉप उठता है, वह अंग तो मेरा नही ! वडे दिनो की साधना से एक पल को मिलता है प्रथम मिलन, मुझे वचित करके उस मिलन को किसने लूट लिया ! चिरदुर्लभ उस मिलन की सुख-स्मृति को साथ लेकर अत्यंत खिले फूल की पखुरियो-सा मेरा यह लावण्य झर जायगा; हृदय की गरीबिन नारी रिक्त देह लिये रात-दिन बैठी रहेगी। मीनकेतु, किस महा राक्षसी को छाया-सी अग सहचरी बनाकर बॉध दिया है मुझसे—कैसा अभिसपात ! चिरतन प्यास से आकुल लोलुप होठो के पास चुवन आया, और उसने पान किया ! प्रेम की वह दृष्टि ऐसी आग्रहभरी कि जिस अग पर पड़े, उस पर मानो वासना का रँगा हुआ रेखा-चिह्न छोड़ जाय—वही दृष्टि रवि-किरण की नाईं चिररात्रि तपस्विनी कुमारी-हृदय-पद्म की ओर लपकती आई, और उसको उसने भुला लिया।

मदन : तो कल की रात व्यर्थ गई। आशा की नाव केवल तट के सामने आकर तरगो के थपेड़े से लौट-लौट गई ?

चित्रांगदा : कल रात कुछ याद ही नही था देव ! सुख का स्वर्ग इतना समीप आ गया कि आत्म-विस्मृति के आनद मे पाया, न पाया का खयाल ही न किया। आज सवेरे जगी; तो निराशा और धिक्कार के आवेग से भीतर-ही-भीतर हृदय टूट रहा है। रात की बात एक-एक करके याद आ रही है और विजली छू जाने-सी व्यथा से चेतना हो रही है। सौत से हुए है मेरे अतर-बाहर, उसे मै भूल न सकूँगी। सौत को अपने हाथो जतन से सजा-गुजाकर मुझे अपनी आकाक्षा के तीर्थ उस मिलन-सेज भेजना होगा, अविश्राम साथ रहकर प्रतिक्षण देखती रहूँगी मै आदर उसका आँखे फैलाए। मेरे देव, देह के लाड़ से हिसा की आग मे हृदय जलता रहे, ससार मे अभिशाप और किसे मिला है ? हे अतनु, वरदान अपना लौटा लो तुम।

मदन · लौटा लूं जो—छल का यह आवरण फेंक पुष्पपत्रहीन हेमत की हिमशीर्ण लता-सी कल सवेरे कौन-सा मुँह लिये पार्थ के सामने

खड़ी होगी जाकर ? प्रमोद का प्रथम आस्वाद भर देकर होठों के आगे से सुधा-पात्र को छीनकर अगर चूर-चूर कर दो, तो अचानक उस चोट से चौंककर वह किस आक्रोश से देखेगा तुम्हें !

चित्रांगदा : वह भी अच्छा। इस छद्मरूपिणी से मैं सौ बार अच्छी हूँ। उसी अपने का प्रकाश करूँगी मैं, भला न लगे उन्हे, घृणा से चल दें यदि—छाती फट जाय और मर जाऊँ मै—तो भी मैं-मैं रहूँगी। इद्रसखा, वह भी अच्छा है।

वसत मेरी बात सुनो। फूल के खिलने का काम जब चुक जाता है, फल लगते है। तापक्लिष्ट लघुलावण्य की पखुड़ियाँ यथासमय आप ही झर पड़ेंगी, फिर अपने गौरव से निकलना; तुम्हे देखकर फाल्गुनी अपना नया सौभाग्य मानेंगे। जाओ, वत्से, यौवन-उत्सव को लौट जाओ।

चौथा दृश्य

अर्जुन और चित्रांगदा

चित्रागदा . क्या देख रहे हो वीर ?

अर्जुन : देख रहा हूँ, फूलो के डठल पकड़कर अगुलियाँ माला गूँथ रही है; निपुणता और चारुता ये दो बहने मिलकर, चपल उल्लास से अंगुलियो के आगे-आगे खेल रही हैं। यह देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ।

चित्रागदा क्या सोच रहे हो ?

अर्जुन : सोच रहा हूँ, वैसी ही सुन्दरता से पकड़कर परस के रगीन रस से सरसाकर प्रवास के इन दिनो को गूँथ-गूँथ, प्रिये, इसी तरह माला बनायगी, उस अक्षय आनन्द हार को पहने घर लौट जाऊँगा।

चित्रागदा · इस प्रेम के घर है ?

अर्जुन : घर नही है ?

चित्रागदा . नही। घर ले जाओगे ! घर की न कहो। घर चिर वर्ष का है;

जो नित्य है, उसीको घर ले जाना। वन का फूल जब सूख जाएगा, घर मे उसे अनादर से कहाँ फेंक दोगे पत्थरो मे ? उससे तो अरण्य के अंत:पुर में नित्य-नित्य जहाँ मरते है अंकुर, गिरते है पल्लव-दल, चूते हैं केशर, टूटती हैं सुमन-पंखुरियाँ, फूटते हैं टूटते है पल-पल क्षण के जीवन, वही—साँझ को जब अपना खेल खत्म होगा—कानन के शत-शत समाप्त सुखो मे झरूंगी। किसी के मन में कोई खेद नही रहेगा।

अर्जुन : बस इतना ही ?

चित्रागदा : इतना ही, बस। वीरवर, इससे दु:ख क्यो ? आलस के दिनो जो अच्छा लगा था, आलस के दिनो ही उसका अन्त कर दो। सुख को एक पल भी अधिक बाँध रखने से सुख दु:ख हो उठता है। जो है वही लो, जब तक है तब तक ही रखो। कामना के प्रात:काल में जितना भर चाहा था, तृप्ति की साँझ मे उससे अधिक की आशा मत करो। दिन ढला। यह माला गले मे डालो। मेरे श्रांत इस शरीर को अपनी भुजाओ मे खीच लो वीर। मिथ्या असंतोष को मिटाकर सुख-सम्मिलन से अधरों की संधि हो। मेरी बाँहो में आओ, प्रणय के अमृतमय चिर पराजय मे हम एक-दूसरे को बंदी बनायँ।

अर्जुन : वह सुनो, प्रियतमे, वन के बाहर दूर लोकालय में आरती का शांति-शंख बज उठा।

पाँचवाँ दृश्य

मदन और वसंत

मदन : मैं पंचशर हूँ, सखे—एक शर मे हँसी, आँसू एक शर मे; एक में आशा, दूसरे मे भय; और एक मे पल मे विरह-मिलन, आशा-भय, सुख-दु:ख, सब।

वसंत : थक गया मैं, बस करो सखे। हे अनंग, रणरंग समेटो अपना। रात-

दिन सजग हो तुम्हारी आग मे कब तक हवा करता रहूँ ! बीच-बीच में नीद लग आती है, सिर झुक आता है, जलती हुई दीप्ति राख से मलिन हो आती है। चौंक जगता हूँ, नई साँस से फिर उसमें नई दमक जगाता हूँ। अब मुझे विदाई दो सखे !

मदन : जानता हूँ मैं, अनत अस्थिर हो तुम, चिरशिशु। द्युलोक भूलोक में सदा बंधनहीन विचरते हो। बहुत-बहुत दिनो में एकात यत्न से जिसे सुन्दर बनाते हो, उसीको फेंक जाते हो पल मे—मुड़कर ताकते तक नही। अधिक विलंब नहीं, आनन्द-चपल ये दिन धीरे-धीरे तुम्हारे पखों की हवा से टूटे पत्तो के समान हू-हू करके जाने कहाँ उड़े जा रहे हैं। हर्प बेसुध वर्प बीत ही चला।

छठा दृश्य

वन में अर्जुन

अर्जुन : सवेरे नीद से जगकर मैंने मानो स्वप्नलब्ध अमूल्य रत्न पाया है। इस धरती पर उसे रखने का स्थान नही, ऐसा किरीट कही नही, जो उसे पकड़ रखे, गूँथकर रखे ऐसा धागा नहीं, और उसे फेंक जाऊँ, वह नराधम नही हूँ मैं—इसीलिए क्षत्रिय की भुजाएँ उसीको लेकर रात-दिन कर्त्तव्यविहीन होकर बँधी पड़ी है।

(चित्रांगदा का प्रवेश)

चित्रागदा : क्या सोच रहे हो ?

अर्जुन : सोच रहा हूँ मृगया की बात। उधर देखो, पहाड़ पर वर्पा उतर आई है; वन मे घिर आई है घनी छाया; अल्हड़ हो उठी है निर्झरिणी, कल-रवि उपहास से तट के तर्जन की उपेक्षा कर रही है। याद आ रहा है, ऐसी ही वर्पा के दिन पाँचो भाई मिलकर शिकार के लिए चित्रक वन में जाया करते थे। रौद्रहीन स्निग्ध अँधेरे मे सारा दिन उमंग में कट जाता था, मेघो की गड़गड़ाहट से हृदय नाच-नाच उठता; वर्पा की झर-झर, निर्झर के कल-

कल्लोल से मृग सावधानी से बढ़ते हुए पदो की आहट नही सुन पाते, चीता बाघ अपने पाँचो नाखूनों की खरोंच डगर पर छोड़ जाते—अपनी गुफा की राह बता जाते; केका-रव से गूंजता रहता अरण्य। शिकार कर लेता तो बाज़ी बदकर हम पाँचो वर्षा के सौभाग्य गर्व से फूली हुई नदी को तैरकर पार करते थे। सोचा है, वैसे ही शिकार में निकलूँगा।

चित्रांगदा : हे शिकारी, जो शिकार आरम्भ किया है, पहले वही समाप्त हो ले। तुमने क्या यह मान लिया है कि यह सोने की मायामृगी तुम्हारी पकड़ मे आ गई है ? नही-नही, ऐसी बात नही। यह वन-हिरनी आप ही अपने को पकड़कर नही रख पाती। स्वप्न-सी अचानक कौन जाने कब तो दौड भागती है। क्षण का कौतुक सह लेती है, सदा का बधन नही ढो सकती। वह देखो, जैसी क्रीड़ा चल रही है वायु और वर्षा मे, श्यामल वर्षा पल मे वायु पर हज़ारों बाणो का प्रहार करती है, तो भी वह अल्हड मृग मतवाला-सा दौड़ता फिरता है अक्षत, अविजित; मुझमे तुममे, नाथ, होती वही क्रीडा, आज वर्षा के दिन—जी-जान से चचला का शिकार करो, तरकस मे जितने भी तीर है, जितने भी अस्त्र है, एकाग्र आग्रह से सब बरसा दो। कभी अँधेरा और कभी चौक चमक खो जाती है जोत हँसकर; कभी स्निग्ध श्यामल वृष्टि और कभी वज्र की दमकती ज्वाला। मायामृगी मेघघिरे जगत् मे फुदकती फिरती है चिरदिन बाधाहीन।

सातवाँ दृश्य

मदन और चित्रांगदा

चित्रांगदा : हे मन्मथ, जाने तुमने क्या मल दिया है सर्वांग मे मेरे। तीखी मदिरा की नाईं मेरे लहू मे मिलकर उसने मुझे पागल बना दिया है। अपनी गति के गर्व से मत्त मैं मृगी खुले केश, उच्छ्वसित वेश

कुलाँचें मारती फिर रही हूँ। धनुर्धर अपने घनश्याम व्याध को मैने थका मारा, निराश सा कर छोड़ा; वन-वन की डगर-डगर पर भटकाती चल रही हूँ उसे। निष्ठुर जीत की खुशी मे कौतुक की हँसी हँसती हूँ। यह खेल समेट लेने मे डर लगता है, लगता है, पल को रुके तो हृदय कही रुलाई से लबालब हो फट न पड़े।

मदन : चलने दो। खेल को खत्म न करो। यह खेल मेरा है। छूटें, चुभें तीर, हृदय टूटे। आज नवीन वर्षा मे वन मे मेरा शिकार चलेगा। थका डालो उसे, थका डालो, पैरो झुकाओ अपने, मजबूत बधन मे बांधो, दया मत दिखाओ, जर्जर बना डालो हँसी से, अमृत और विप-बुझे तीखे वाक्य-बाण छाती मे चुभाओ। शिकार मे दया का नियम नही।

आठवाँ दृश्य

अर्जुन और चित्रांगदा

अर्जुन : तुम्हारे कोई घर नही, प्रिये, जिस घर मे विछोह मे तुम्हारे प्रिय-परिजन रोते हो? अपनी नित्य की स्नेह-सेवा से जिस आनंदपुरी को सुधा-मग्न कर रखा था, जहाँ के दीए को बुझाकर तुम वन मे आ गई हो? ऐसा स्थान नही है, जहाँ तुम्हारी बचपन की स्मृति रोने जाती हो?

चित्रागदा : यह प्रश्न क्यो? आनद क्या मिट चुका? जो देख रहे हो, मैं वही हूँ, और कोई परिचय नही है। प्रात.काल किंशुक के पत्ते की नोक पर झूल जो रही है ओस की बूँद एक, उसका कोई नाम-धाम है? पूछता है क्या कोई परिचय उसका? तुमने जिसे प्यार किया है, वह ओस की वैसी ही बूंद है एक, नाम-धामहीन।

अर्जुन . पृथ्वी पर उसे कोई भी बधन नही? एक बूंद स्वर्ग केवल भूल से टपक पड़ा है भूतल पर?

चित्रागदा : वैसा ही है। केवल पल-भर को उसने वन-फूलो को अपनी चमक दी है।

अर्जुन : इसीसे प्राणो को सदा खोने का भय बना रहता है, तृप्ति नही मिलती, शांति नही आती। सुदुर्लभे, और समीप आओ। नाम-धाम, गोत्र-गृह, वाक्य-देह-मन से सहस्र बधनों मे बँध जाओ प्रिये ! चारो ओर से घेरकर छू सकूँ तुम्हे। निर्भय निश्चिन्त हो रहूँ। नाम नही है ? तो फिर किस प्रेम-मत्र से हृदय-मदिर मे जपूँगा तुम्हे ? गोत्र नही है ? फिर किस मृणाल मे पकड़कर रखूँगा इस कमल को ?

चित्रागदा : नही है, नही है, नही है। जिसे तुम बाँधना चाहते हो, उसने बधन कभी जाना ही नही। वह तो मेघ की सुनहली छटा है केवल, फूल की सुगध है, तरग की गति है।

अर्जुन . ऐसे को जो प्यार करता है, अभागा है वह। प्रिये, प्रेम के हाथों आकाश-कुसुम न दो। उसे सुख-दुःख मे, सुदिन-दुर्दिन मे हृदय में रखने की निधि दो।

चित्रागदा अभी तो वर्ष भी नही बीता, इतने ही मे यह श्राति ? हाय-हाय, अब समझी, देवता के आशीर्वाद से फूल थोडी परमायु वाले होते है। बीते वसत के झरे-मरे फूलो के साथ यदि झड पड़ता, तो यह मोहन तन आदर से मरता। और अधिक दिन नही पार्थ ! जो कुछ दिन है, जी भरकर कौतूहल से उसके आनद के मधु की अतिम बूँद तक पी जाओ। उसके बाद गई साँझ की डाल से टूटी माधवी की आशा मे प्यासे भौरे की नाई स्मृति की कुहक से बार-बार मत आना।

नवाँ दृश्य

वनचरगण और अर्जुन

वनचर : हाय-हाय, कौन रक्षा करे !

अर्जुन : क्यो, क्या हुआ है ?

वनचर : बरसात की पहाड़ी बाढ से उत्तर पर्वत से लोकालय का नाश करने

के लिए लुटेरों का दल बढ़ता चला आ रहा है।

अर्जुन : इस राज्य मे रक्षक कोई नही है ?

वनचर : दुष्ट-दमन थी राजकुमारी चित्रागदा; उनके डर से राज्य मे यम का भय छोड़कर और कोई भय नही था। सुना है, वह तीर्थ-यात्रा मे गई है, अज्ञात भ्रमण का व्रत लिया है।

अर्जुन · इस राज्य की रक्षक है नारी ?

वनचर : एक ही देह मे वह अनुरक्त प्रजा के माता पिता है। स्नेह में है राज-माता, वीरता मे युवराज।

[प्रस्थान]

[चित्रांगदा का प्रवेश]

अर्जुन : सोच रहा हूँ, जाने कैसी है राजकुमारी चित्रागदा। प्रतिदिन सैकड़ो मुखो से उसीकी बात सुनता हूँ, नई-नई अनोखी कहानी।

चित्रांगदा : कुत्सित है, कुरूपा ! ऐसी बांकी भौहे नही है, नही है ऐसी घनी काली पुतलियाँ। कठिन मजबूत भुजाओ ने लक्ष्य वेधना सीखा है, सुकोमल नागपाश से वह वीर को ऐसे बांध नही सकती।

अर्जुन · किंतु सुना है, स्नेह मे नारी है, वीरता मे पुरुष।

चित्रागदा : छि:-छि:, यही उसका दुर्भाग्य है। नारी यदि नारी हो, केवल धरती की शोभा, केवल जोत, केवल प्यार—केवल मीठे छल से शत-शत भगिमाओ से लुटकर, जकडकर हँस-रोकर सेवा-प्यार से भरी-पूरी सदा देखती रहे—तभी उसका जन्म सार्थक जानो। उसकी कर्म-कीर्ति, बल-वीर्य, शिक्षा-दीक्षा क्या होगी ? हे पौरव, इस वन की राह मे, पूर्णा नदी के किनारे, उस मदिर मे कल कही देखा होता तुमने उसे, हँसकर चल देते। हाय-हाय, नारी के सौंदर्य से आज इतनी अरुचि हो गई, नारी मे ढूंढना चाहते हो पौरुष का स्वाद !

आओ, नाथ, वह देखो, गहरी छाँह वाली गिरि-कंदरा के मुख पर पीतश्याम किसलयो से मैंने दोपहर की सेज बिछाई है··· झरने के सीकर-निकर से उसे शीतल किया है, 'वेला बीत रही है, वेला बीत रही है' कहती हुई घने पत्तो की छांह मे बैठी थके स्वर

मे कपोती रो रही है। छाया-तल से होती हुई कल-कल वहती जा रही है नदी। शिलाखंडो पर सरस, सुस्निग्ध, श्यामल, शैवाल के स्तर, कोमल होठों-आँखों को चूमते है। आओ नाथ, विरल विराम को चलो।

अर्जुन : आज नही प्रिये !

चित्रांगदा : क्यों नाथ ?

अर्जुन : सुना, जनपद को लूटने के लिए लुटेरे आ रहे है। आर्त्तो को वचाऊँगा।

चित्रागदा : कोई भय नही प्रभु ! तीर्थ को जाते समय राजकुमारी चित्रागदा ने चारो ओर सतर्क प्रहरी विठा दिए हैं; विपत्ति के जितने भी मार्ग हैं, वहुत सोच-विचारकर वह सवको वद कर गई है।

अर्जुन : तो भी अनुमति दो प्रियतमे, थोड़े काल के लिए कर्तव्य कर आऊँ अपना। क्षत्रिय की भुजा दिनो से अलसाई पड़ी है। सुमध्यमे, क्षीण कीर्ति इन भुजाओं को फिर से नये गौरव से भर लाकर यत्न-पूर्वक तुम्हारे सिरहाने रखूँगा, तुम्हारे योग्य उपाधान होगा वह।

चित्रांगदा : और न ही जाने दूँ जो ? वाँध रखूँ तो ? तुडाकर चल दोगे ? तो फिर जाओ। लेकिन याद रखो, टूटी लता जुड़ती नही। तृप्ति हो चुकी हो, तो जाओ, मना न करूँगी। यदि तृप्ति न हुई हो, तो याद रखो, चचला सुख की लक्ष्मी किसी के लिए वैठी नही रहती। वह किसी की सेवा-दासी नही; नर-नारी उसीकी सेवा करते है, डरते-डरते रात-दिन आँखों-आँखो रखते हैं उसे, जव तक वह प्रसन्न रहती है। जिसे सुख की कली छोड़ जाओगे, काम से लौटकर साँझ को देखोगे, उसकी पंखुरियाँ खिलकर भूमि मे झर पड़ी है; तव सव काम व्यर्थ-से लगेंगे; जीवन मे सदा रह जायगी जीती-जागती अतृप्ति भूख व्याकुल। आओ नाथ, वैठो। आज इतने अनमने क्यो ? किसकी सोच रहे हो ? चित्रागदा की ? आज उसे इतना सौभाग्य क्यों ?

अर्जुन : सोचता हूँ, वीरांगना ने यह दुष्कर व्रत किसलिए उठाया है। अभाव क्या है उसे ?

चित्रागदा : अभाव क्या है ! था क्या उस अभागी के पास ? उसके वीर्य ने चारों

ओर अभ्रभेदी दुर्गम दुर्ग खड़ा करके रोते हुए रमणी-हृदय को रोक रखा था। रमणी तो सहज ही अतरवासिनी होती है, आप अपने मे छिपी होती है; उसे देख कौन पाता, देह की शोभा मे यदि हृदय की परछाई न झलके ? अभाव क्या है उसे ! जिसकी अरुण-लावण्य छटा सदा के लिए बुझ गई हो, उस ऊषा-जैसी जो रमणी अपने शत-शत तिमिर-स्तर के नीचे वीर्य के गिरिशृङ्ग पर नित्य अकेली बैठी रहती है, अभाव क्या है उसे। उसकी बात ही रहने दो—उसका इतिहास पुरुषो के लिए श्रुतिमधुर नही।

अर्जुन : कहो-कहो। सुनने की लालसा क्रमश. बढ रही है। हृदय से उसके हृदय का अनुभव कर रहा हूँ। मानो पथिक हूँ मैं, किसी अनोखे देश मे आधी रात को जा निकला हूँ। नदी, वन, पर्वत नीद मे डूबे, शुभ्र सौध शिखरो वाली उदार नगरी छाया-जैसी धुँधली दीखती है; सागर का गर्जन सुनाई पड़ता है; सवेरे की जोत मे मानो चहुँ-दिशि एक अनोखे विस्मय मे निखरेगी—उत्सुक हृदय से मैं उसीकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। कहो, सुनूँ।

चित्रागदा · सुनोगे भी क्या ?

अर्जुन : मैं उसे देख पा रहा हूँ—बाएँ हाथ मे लापरवाही से घोड़े की लगाम थामे, दाएँ मे तीर-कमान, नगर की विजयलक्ष्मी के समान भीत प्रजा जनो को अभय दे रही है। गरीबो के सकरे दरवाजे पर, जहाँ प्रवेश करने मे राजा की महिमा को झुकना पड़ता है, वहाँ माता के रूप मे दया बाँट रही हैं। सिहनी-सी चारो ओर से अपने शावको को अगोरे हुए है, शत्रु कोई डर से पास नही फटकता। लज्जामुक्त, निर्भय, खिली हँसी हँसती वीर्य-सिह पर सवार जगद्धात्री दया सी घूमती हैं। रमणी की कमनीय भुजाओ मे वह असकोच बल स्वाधीन है, उसके पास रुन-झुन ककण-किकिणी धिक्-धिक्। अयि वरारोहे, बहुत दिनो से निकम्मा पड़ा प्राण मेरा जाड़े-भर सोकर जगे भुजंग-सा अशांत हो उठा है। आओ, हम दोनो दो मत्त घोड़े लेकर तेज गति से अगल-बगल दो दमकते नक्षत्रो की तरह निकल जायँ। निकल जायँ इस रुँधी हवा, फूलो की तीखी गध-मदिरा से घोर निंदा ये अरण्य के अध गर्भ से।

चित्रागदा : हे कौतेय, यदि यह लालित्य, यह सुकोमल भीरुता, स्पर्श के क्लेश से कातर शिरीष-पल्लव-सा यह रूप पराये वस्त्र-खड के समान फाड़कर घृणा से पैरो-तले फेंक दूँ—वह क्षति सह सकोगे ? स्त्री का छल-कौशल, माया-मत्र को दूर हटा, यदि सबल उन्नत वीर्य-मत अतर के बल से उठ खडी होऊँ पर्वत पर के आनम्र सुन्दर तेजस्वी तरुण तरुवर-सी किंतु लोटती लता-सी नित्य कुठित नही रहूँ, पुरुष की आँखो वह क्या भला लगेगा ? रहने भी दो, उससे तो यही अच्छा है। दो दिन के बहुमूल्य धन, अपने इस यौवन को जतन से सजाए यह देखा करूँगी बैठी-बैठी, अवकाश पाकर जब आओगे, अपनी सुधा देह-पात्र मे लबालब भरकर पान कराऊँगी; सुख के स्वाद से ऊब जाओगे तो काम पर निकल पडोगे, पुरानी पड जाने पर जहाँ स्थान दोगे, वही बगल मे पडी रहूँगी। रात की नर्म सहचरी यदि दिन की कर्म सहचरी बने, बाये हाथ-सा दाये हाथ का अनुचर हो सदा तैयार रहे, वीर के प्राणो को वह अच्छा लगेगा !

अर्जुन : तुम्हारा रहस्य मैं समझ नही पाता। इतने दिनो से हूँ, फिर भी मानो पता नही पाया। गुप्त रहकर तुम मानो वचित कर रही हो मुझे ; तुम मानो देवी-सी हो, प्रतिमा की आड़ मे रहकर मुझको अमूल्य चुम्बन-रत्न, आलिगन-सुधा का दान देती हो; स्वय कुछ नही चाहती, कुछ नही लेती। अगहीन, छदहीन प्रेम पल-पल प्राणो मे परिताप जगाता है। तेजस्विनी, तुम्हारा परिचय बीच-बीच मे बातो-बातो मे मिलता है। उसके आगे यह सौन्दर्य राशि लगता है, माटी की मूरत भर है, कुशल हाथो की आँकी एक शिल्प यवनिका। कभी-कभी लगता है, तुम्हारा रूप अब तुम्हे धारण नही कर सकता, टलमल काँपता है। नित्य उगलती हँसी के हृदय मे लबालब भरे है आँसू; कभी-कभी डब-डब कर उठते है, मानो आवरण तोडकर पल मे फट पड़ेगे। साधक के सामने पहले मोहक माया काया धारण करके भ्राति आती है; उसके बाद अंतर बाहर को आलोकित करता हुआ भूषणविहीन रूप मे सत्य दर्शन देता है। वह सत्य तुम मे कहाँ है, मुझे वह दो।

मेरा जो सत्य है, वही लो। वह मिलन चिरश्रांतिहीन होगा।

आँसू क्यो प्रिये ! बाँहो मे मुँह छिपाए यह व्याकुलता कैसी। पीड़ा पहुँचाई मैंने ? तो फिर छोडो, रहने दो। यही मनोहर रूप मेरे पुण्य का फल है। वसंत समीरण मे यह जो संगीत बीच-बीच में सुनाई पडता है, इस यौवन-यमुना के पार से, यही मेरा बहुत बडा सौभाग्य है। यह वेदना मेरे सुख से बढकर सुख है, आशा से अधिक आशा, हृदय से भी बड़ी, इसीलिए वह हृदय की व्यथा-सी लगती है प्रिये !

दसवाँ दृश्य

मदन, वसंत और चित्रांगदा

मदन : अतिम रात है आज।

वसंत : आज रात बीतते तुम्हारा देह-लावण्य वसत के अक्षय भंडार मे लौट जायगा। तुम्हारे होठो की लाली पार्थ के चुवन की स्मृति भूलकर लता को दो नये किसलयो मे मँजरा देगी। अंग का रग नये जागरण मे बीते जन्म की कहानी को स्वप्न-सा छोड़ शत-शत फूलो में नया आकार ग्रहण करेगा।

चित्रागदा . हे अनग, हे वसंत, तो आज रात के शेप प्रहर मे मेरा यह मरणासन्न रूप बुझते प्रदीप की अतिम लौ-सा अचानक उज्ज्वलतम हो उठे।

मदन : तो फिर वही हो। सखे वसत, तो प्राणपूर्ण वेग से दक्षिण पवन को जगा दो। यौवन का क्लात मद स्रोत नये उल्लास से फिर से अग-अग मे उमड आय। आज अपने पचशर से मैं निशीथ की नीद तोडकर बाहु-पाश मे बँधे दो प्रेमिको के तन को भोगवती नदी के तरगोच्छ्वास से प्लावित कर दूंगा।

ग्यारहवाँ दृश्य

अन्तिम रात

(अर्जुन और चित्रागदा)

चित्रागदा : प्रभु, साध पूरी हुई ? इस सुचारु सुडौल नवनीत कोमल सौन्दर्य मे जितनी सुगध थी, जितना मधु था, सभी क्या पी चुके तुम ? कुछ और वाकी है ? और कुछ चाहते हो ? मेरा जो कुछ भी था, शेष हो चुका सब ? नही-नही, प्रभु—भला हो, बुरा हो, कुछ और भी वाकी है, वह मैं आज दूँगी।

प्रियतम, भली लगी थी, इसलिए वड़ी-वड़ी साधना के वाद नदन-कानन से तोड़ लाकर यह सौन्दर्य-पुष्प-राशि चरणो चढ़ाई थी। यदि पूरी हो चुकी पूजा, तो आज्ञा दो प्रभु, निर्माल्य की यह डाली मंदिर के वाहर फेक दूँ। अव प्रसन्न नयन से सेविका की ओर निहारो !

जिस फूल से पूजा की है, प्रभु, मैं उस फूल के समान, उतनी सुमधुर, उतनी सुकोमल, उतनी सपूर्ण सुन्दर नही हूँ। मुझमे दोप है, गुण है, पाप है, पुण्य है, कितनी दीनता है, जन्म-भर की कितनी प्यास है जाने। ससार की डगर पर चलने वाली, धूल-सने कपड़े, चोटों से चूर चरण—फूल की सुपमा, दो घड़ी के जीवन की कलंक-हीन शोभा कहाँ पाऊँ ! किंतु अक्षय अमर एक रमणी-हृदय है। सुख-दु.ख, आशा भय, लाज दुर्वलता—धूल-भरी धरती की गोद की वेटी—उसकी कितनी तो भ्राति, कितनी पीड़ा, कितना प्यार उसका एक साथ मिला-जुला सिमटा लगा है। असीम एक अपूर्णता है, अनत, महान्। फूल की सुरभि यदि खो गई हो, तो जन्म-जन्मान्तर की अपनी इस सेविका की ओर निहारो !

सूर्योदय

(अवगुंठन खोलकर)

मैं चित्रागदा हूँ। राजेन्द्र-नदिनी। याद हो स्यात्, वही एक दिन, उस सरोवर के किनारे, शिवालय मे, अपने रूपहीन तन को अनेक

आभरणो के भार से दबाए एक नारी मिली थी। जाने उस निर्लज्ज मुखटा ने क्या कहा था, पुरुष की प्रथा से आराधना की थी पुरुष की; तुमने उसे ठुकरा दिया था। ठीक ही किया। सामान्य नारी-रूप में उसे ग्रहण करते कही, आभरण-अनुताप चुभता छाती में बेचारी के। प्रभु, मैं वही नारी हूँ। फिर भी वही नारी नही हूँ मैं, वह मेरा हीन बनावटी वेश था। उसके बाद वसत के वरदान से वर्ष-भर के लिए अनुपम रूप पाया था। छल के भार से श्रात कर दिया था वीर के हृदय को। मैं वह भी नही हूँ।

मै चित्रागदा हूँ। देवी नही, न ही मामूली रमणी हूँ मैं। पूजा करके जिसे माथे चढ़ाओ, वह भी नही हूँ मैं; अवहेलना से पालतू बनाकर पीछे डाल दो, मैं वह भी नही। यदि सकट के पथ पर मुझे पार्श्व मे रखो, दुरूह चिंता मे भागीदार बना लो, अपने कठोर व्रत मे यदि हाथ बँटाने की अनुमति दो, सुख-दु ख की सह-चरी बनाओ—मेरा परिचय तुम तब पाओगे। गर्भ मे अपने तुम्हारी जिस सतान को मैंने धारण किया है, वह पुत्र हो कहीं, आशैशव वीर शिक्षा देकर जिस दिन उसे दूसरा अर्जुन बनाकर पिता के चरणो मे भेजूंगी, उस दिन मुझे पहचानोगे प्रियतम !

आज तो चरणो मे इतना ही निवेदन है, मैं चित्रांगदा हूँ, राजेन्द्र-नदिनी।

अर्जुन : प्रिये, आज धन्य हुआ मैं।

चिरकुमार सभा

अनुवादक :
भारतभूषण अग्रवाल

प्रथम अंक

पहला दृश्य

(अक्षय की बैठक)

अक्षय और पुरबाला

पुरबाला : तुम्हारी अपनी बहनें होतीं तो देखती कैसे चुप बैठे रहते। अब तक एक-एक के लिए तीन-तीन, चार-चार पात्र जुटा लाते। ये मेरी बहनें हैं न···

अक्षय : मानव-चरित्र की कोई भी बात तुमसे छिपी नहीं है। अपनी बहन में और अपनी पत्नी की बहन में कितना अन्तर होता है, यह भी तुम इस कच्ची उमर में ही समझ गई हो। जो हो भई, अपने ससुर की एक भी बेटी को पराये हाथों सौंपते मेरा मन किसी तरह राजी नहीं होता। इस बारे में मुझमें उदारता की कमी है, यह स्वीकार करता हूँ।

पुरबाला : देखो, मुझे तुम्हारे साथ एक समझौता करना है।

अक्षय : एक पक्का समझौता तो उसी दिन हो गया था जब मंत्र पढ़कर फेरे पड़े थे। अब एक और !

पुरबाला : अजी, यह उतना खतरनाक नहीं है। शायद यह उतना दुःसह भी न हो !

अक्षय : तो फिर साफ-साफ बताओ, सखी।

गीत—१

मैं क्या जानूं, तुमने अपने मन में क्या सोचा है, बताने ! साफ-साफ बताओ। इन छलछलाते नयनों में कौन-सी बात लहरा रही है !

पुरबाला : बस, बस, उस्तादजी ! मेरा प्रस्ताव है कि दिन में तुम एक ऐसा

तुम्हारे साथ एकाध काम की वात हो सके।

अक्षय : भई गरीब का बेटा हूँ, पत्नी को वातचीत का मौका देते डरता हूँ, कहीं चट से बाजूबंद न माँग बैठे।

गीत—२

कहीं मेरा मन न माँग बैठे, मैं इसीसे डरता रहता हूँ। कहीं नयनों से नयन न बँध जायँ, इसीसे मैं आँख नहीं उठाता।

पुरवाला : चलो, हटो !

अक्षय : अरे, अरे, बिगड़ने की क्या बात है। अच्छा, जो कहोगी वही करूँगा। रजिस्टर मे नाम लिखाकर तुम्हारी परिहास-निवारिणी-सभा का सदस्य बन जाऊँगा। तुम्हारे सामने किसी तरह की बेअदबी नही करूँगा—हाँ, क्या बात हो रही थी ? सालियो का ब्याह ! उत्तम प्रस्ताव है।

पुरवाला : देखो, अब पिताजी तो है नही। माँ तुम्हारा ही मुंह देख रही है। तुम्हारे ही कहने से वे इतनी उम्र बढ़ जाने पर भी बेटियो को पढ़ा-लिखा रही हैं। अब भी अगर तुम सत्पात्र न जुटा पाये तो कितनी ज्यादती की बात होगी, जरा सोचो तो सही।

अक्षय : मैं तो पहले ही कह चुका हूँ, तुम लोग कोई फिक्र मत करो। मेरी सालियों के पति गोकुल मे बड़े हो रहे हैं।

पुरवाला : पर यह गोकुल है कहाँ ?

अक्षय . जहाँ से तुमने इस अभागे को अपनी गोशाला मे भरती किया है—वही अपनी चिरकुमार-सभा।

पुरवाला . उनकी तो विधाता से लड़ाई है।

अक्षय : भला देवता से लड़ाई करके रहा जा सकता है। उससे तो वे उल्टे और नाराज़ हो जाते हैं। इसीलिए तो इस सभा की ओर विधाता का विशेष रुझान है। सकोरे से ढँकी हँडिया में जिस तरह माँस चुपके-चुपके पकता रहता है—प्रतिज्ञा मे बन्द रहने के कारण इस सभा के सदस्यो की भी हड्डी-पसली तक नरम हो गई है—पूरी तौर से विवाह के योग्य हो उठे हैं—बस परोसने की देर है। मै भी तो एक दिन इसी सभा का सभापति था।

पुरवाला : तुम्हारी कैसी दशा हुई थी ?

अक्षय : बस, कुछ न पूछो। प्रतिज्ञा तो यह थी कि स्त्री शब्द तक मुँह पर न लाऊँगा, लेकिन अन्त में हुआ यह कि लगता, श्रीकृष्ण की सोलह सौ गोपियाँ चाहे अब दुर्लभ हों, कम-से-कम महाकाली की चौसठ हज़ार योगिनियों का ही पता चल जाय तो एक बार पेट भरकर प्रेमालाप कर लूँ—बस तभी तुम्हारे साथ साक्षात्कार हो गया।

पुरबाला : चौसठ हज़ार का शौक पूरा हुआ ?

अक्षय : अब यह भला तुम्हारे सामने क्या कहूँ, गुस्ताखी होगी। फिर भी इशारे से कह सकता हूँ, काली माता ने कृपा ज़रूर की है।

पुरबाला : तो फिर मैं भी कह दूँ। बाबा भोलानाथ के यहाँ नन्दीभृङ्गी की कमी नही थी; मेरे ऊपर शायद उन्होंने कृपा की है।

अक्षय : हो सकता है, तभी तो तुम्हें कार्त्तिक मिला है।

पुरबाला : फिर मजाक शुरू हुआ !

अक्षय : कार्त्तिक की चर्चा शायद मजाक है ? मैं तुम्हारी देह छूकर कहता हूँ, यह मेरे अंतर का विश्वास है।

(शैलबाला का प्रवेश)

शैलबाला : मुखर्जीबाबू, लो अब अपनी दोनों छोटी सालियों की रक्षा करो।

अक्षय : अगर अरक्षणीया[1] हो गई हों तो मैं तैयार हूँ। लेकिन माजरा क्या है ?

शैलबाला : माँ की डाँट खाकर रसिक बाबा न जाने कहाँ से कुलीन लड़कों का एक जोड़ा ले आए है। माँ ने तय किया है कि उन्हींके साथ अपनी दोनों बेटियों का व्याह कर देंगी।

अक्षय : मार डाला। एकदम व्याह का एपीडेमिक ! प्लेग की तरह ! एक घर मे एक साथ दो-दो कन्याओं पर आक्रमण ! डर लगता है कहीं मुझे भी न धर ले।

गीत—३

बहुत पास रहता हूँ, इसीलिए डरता रहता हूँ। नयन-वचन जाने कब कहाँ लग जायँ, क्या पता फिर मै बचूँ, न बचूँ !

---

१ मूल शब्द-प्रयोग में श्लेष है, अतः उसे ज्यों-का-त्यों रख दिया है। बँगला में 'अरक्षणीया' के साधारण अर्थ के अतिरिक्त उसका अर्थ ऐसी कन्या भी होता है जिसकी उम्र विवाह-योग्य हो चुकी हो और उस लिए जिसका विवाह कर देना जरूरी हो गया हो।

शैलबाला : यह क्या तुम्हारे गीत गाने का वक्त है।

अक्षय : क्या करूँ भई। शहनाई बजानी तो सीखी नही, नही तो वही छेड देता। क्या कहने है ! मगल-कार्य ! दो-दो सालियों का पाणि-ग्रहण ! पर इतनी जल्दी क्यों ?

शैलबाला : वैशाख के बाद इस साल अकाल पडने वाला है, फिर कोई सहालग ही नही है।

पुरबाला : तुम अभी से क्यो चिन्ता कर रही हो शैल, पहले पात्रों को तो देख लें।

(जगत्तारिणी का प्रवेश)

जगत् : बेटा अक्षय !

अक्षय : क्या है माँ ?

जगत् : तुम्हारी बात मानकर मैं बेटियों को अब और तो रख नहीं सकती।

शैलबाला : बेटियों को नही रख सकती, क्या इसीलिए उन्हें फेंक दोगी माँ !

जगत् : यह लो। तुम्हारी बातें सुनकर तो बुखार आ जाता है। बेटा अक्षय, शैल तो विधवा है, उसे इतना पढ़ा-लिखाकर पास कराके क्या होगा ? उसे इतनी विद्या की क्या जरूरत है ?

अक्षय : माँ, शास्त्रों में लिखा है, लड़कियो के लिए एक-न-एक उत्पात जरूर होना चाहिए, या तो स्वामी हो, या विद्या हो, या फिर हिस्टीरिया। देखो न लक्ष्मी के तो है विष्णु, उन्हे विद्या की जरूरत ही नही पड़ी, बस अपने पति मे और अपने उल्लू मे ही मगन हैं—पर सरस्वती के पति नही है इसीलिए वे विद्या के सहारे रहती हैं।

जगत् : कुछ भी कहो बेटा, मैं तो अगले वैशाख मे बेटियो का व्याह जरूर कर दूँगी।

पुरबाला : हाँ माँ, मेरी भी यही राय है। समय रहते बेटियों का व्याह कर देना ही ठीक है।

अक्षय : (अलग से) सो तो है ही। खास तौर से जब शास्त्रो मे एकाधिक पति का निषेध है तो फिर झट-पट व्याह करके उसे समय रहते पाल लेना ही उचित है।

पुरबाला : है, हैं, क्या बकते हो ? माँ सुन लेगी।

जगत् : रसिकचाचा आज पात्र दिखाने लायँगे, तो चलो बेटी पुरी, उनके जल-पान का ठीक-ठाक कर लें।

(जगत्तारिणी और पुरबाला का प्रस्थान)

शैलबाला : अब देरी करने से काम नहीं चलेगा मुखर्जीबाबू। अब तो तुम्हें अपनी 'चिरकुमार सभा' के विपिनबाबू और श्रीशबाबू को एड़ लगानी ही पड़ेगी। आहा हा, गजब के लड़के है। अपनी नेपो और नीरो से उनका मेल खूब बैठेगा। तुम तो चैत बीतते-न-बीतते कन्धों पर दफ्तर लादकर शिमला चले जाओगे, इस बार माँ को टालना मुश्किल होगा।

अक्षय : पर इसी खयाल से अगर सभा को अचानक बे-वक्त उकसाया तो वे भड़क उठेगे। अंडे का खोखल तोड़ने से ही पक्षी नही निकलता। उसे ढंग से सेना पडता है, उसमे समय लगता है।

शैलबाला : अच्छी बात है, सेने का जिम्मा मैं लेती हूँ मुखर्जीबाबू !

अक्षय : और ज़रा खुलासा कहो।

शैलबाला : यही दस नम्बर मे ही तो उनकी सभा है न ? बस अपनी छत से देखनहासि[1] का घर पार करके वहाॅ पहुँच सकते है। मै पुरुष वेश धारण करके उनकी सभा की मेम्बर बनूंगी, फिर देखती हूँ उनकी सभा कै दिन टिकती है।

अक्षय : तो फिर मैं भी दूसरा जन्म लेकर दुबारा मेम्बर बनूंगा। एक बार तुम्हारी जीजी के हाथो मजा चख चुका हूँ, अब की तुम्हारे हाथों सही। क्वाँरे रहने में यही तो आनद है—कटाक्ष-बाणो को लक्ष्य-भेद करने की छूट दी जा सकती है।

शैलबाला : छि·। मुखर्जीबाबू ! तुम तो दकियानूस होते जा रहे हो। अब क्या इन नयन-बाण-फाण का चलन है। युद्ध-विद्या अब बहुत बदल गई है।

(नृपबाला और नीरबाला का प्रवेश। नृप शांत और मृदुल स्वभाव की है, नीर उससे उल्टी। कौतूहल और चचलता से वह सदा लहराती रहती है।)

नीरबाला : (शैल से लिपटकर) मँझली जीजी, बोलो आज कौन आ रहे हैं ?

---

१. अपनी किसी सहेली के लिए स्नेह सम्बोधन। बंगाल में प्रथा है कि सहेलियां आत्मीयता दिखाने के लिए एक-दूसरे का मनमाना नाम रख लेती है, और उसी नाम से एक-दूसरे को सम्बोधित करती रहती हैं।

नृपबाला : मुखर्जीबाबू, आज क्या तुम्हारे दोस्तो की दावत है ? ...जल-पान का सरंजाम क्यो हो रहा है ?

अक्षय । यह लो, किताबे पढ-पढकर आँखे फोड़ ली—किस प्रकार पृथ्वी के आकर्षण से उल्का-पात होता है ये सब लाखो कोस की बातें तो मालूम है और आज अठारह नम्बर मधुमिस्त्री गली में किसके आकर्षण से कौन टूटा पड़ रहा है इसका कोई अनुमान नही कर पाई ?

नीरबाला : समझ गई सँझली जीजी, तुम्हारा वर आने वाला है। तभी सवेरे मेरी बाई आख फड़क रही थी।

नृपबाला : तेरी बाई आँख फड़कने पर मेरा वर क्यो आयगा।

नीरबाला . मेरी बाई आँख अगर तुम्हारे वर के लिए फडक भी ली तो क्या हुआ भई, मुझे इसका कोई दुःख नही। लेकिन मुखर्जी बाबू, जल-पान तो दो जनो के लिए दिखाई दे रहा है। सँझली जीजी क्या स्वयवर रचा रही हैं ?

अक्षय : नही-नही, अपनी छोटी जीजी भी वचित नही रहेगी।

नीरबाला . वाह-वाह मुखर्जी बाबू, बड़ा शुभ समाचार सुनाया। बोलो, क्या बख्शीश दूं। यह लो गले का हार—हाथो के कड़े।

शैलबाला : अरे-अरे, हाथ खाली नही करते।

नीरबाला · आज हमारे वर के 'ऑनर' मे पढ़ाई से छुट्टी देनी पड़ेगी मुखर्जी-बाबू।

नृपबाला : उँहुं, क्या वर-वर लगा रखी है। देखो तो मँझली जीजी।

अक्षय : इसीलिए तो मैंने उसका नाम बर्बरा[1] रखा है। हे बर्बरे ! भगवान् ने तुम सब बहनों के लिए यह एक अक्षय वर दे रखा है, फिर भी तृप्ति नही होती ?

नीरबाला . इसीसे तो लोभ बढ गया है।

(नृप उसको घसीटकर ले जाने लगती है। जाते-जाते)

आ जायँ तो खबर कर देना मुकर्जी बाबू। झाँसा मत देना। देख

---

१. बँगला में 'व' और 'ब' का उच्चारण एक-सा होता है। इसीलिए 'वर' को 'बर' बोला जाता है, और 'वर-वर' को 'बर्बर'। मूल सवाद मे इसीके आधार पर श्लेप का प्रयोग किया गया है।

तो रहे हो, सँझली जीजी कितनी चंचल हो रही है।

गीत—४ (अ)

कहीं वह बिना कहे न चला जाय, इसीलिए मेरी आँखों में नींद नहीं है।

अक्षय : घबराने की क्या बात है ? एक जायगा तो दूसरा आयगा। जिस विधाता ने अग्नि की रचना की है वे ही पतगे जुटायँगे। अभी तो गीत चलने दो।

गीत—४ (आ)

नीरबाला : मै उसके पास रहती हूँ फिर भी मन की मन में रह जाती है।

अक्षय : नीरू, यह बात तो आगन्तुको को लक्ष्य करके नही कही गई। पास मे रहने वाले ये साहब कौन है, बताओ तो सही।

गीत—४ (इ)

नीरबाला : जो पथिक पथ भूलकर मेरे प्राणों के कूल पर आता है, कहीं बाद में अपनी भूल खुल जाने पर उल्टा न लौट जाय, इसीलिए मेरी आँखों में नींद नहीं है।

अक्षय : अरे ! यह बात तो मुझसे मिलती है। पर भई, मै तो जान-बूझकर ही रास्ता भूला हूँ, इसलिए भूल खुलने की कोई गुजाइश नही।

गीत—४ (ई)

नीरबाला : जो मेरी अर्गला तोड़कर आया है, वह फिर खुले द्वार से भागकर न चला जाय, भावों की झोंक में जाकर चल पड़ने वाला पागल क्या फिर उस अबेला में विनती करने से रुकेगा, इसलिए, मेरी आँखों में नीद नही है।

गीत—५

अक्षय : नही-नहीं, तुम चिन्ता मत करो। रात भले ही चली जाय, मै नही जाऊँगा। मै जाता भी हूँ, तो लौट आने की कह जाता हूँ। मै छायालोक के पथ पर आता-जाता रहता हूँ। मेरा मन मिलन-विरह के हिंडोले पर झूलता रहता है। और बार-बार आने-जाने के कारण ही यह जान पाता हूँ कि तुम शाश्वत हो। अगर क्षण-भर को भी तुम ओट में खड़े हो जाते हो तो मेरे प्राण इसी सोच में सूखते रहते है कि तुम्हे पाऊँगा भी कि नही।

नीरवाला : चलो चिन्ता मिटी। तो फिर चैन से सोऊं ?

अक्षय : बेखटके।

(नीरवाला और नृपवाला का प्रस्थान)

शैलवाला : मुखर्जी वाबू, हँसी की बात नही—मैं चिरकुमार सभा की मेम्बर जरूर बनूँगी। पर मेरे साथ कोई न कोई जान-पहचान वाला तो रहना ही चाहिए। तुममे तो शायद अब मैम्बर बनने की सामर्थ्य नही।

अक्षय : नही, मैं तो पाप कर चुका हूँ। तुम्हारी जीजी ने मेरी तपस्या भंग करके मुझे उस स्वर्ग से वंचित कर डाला है।

शैलवाला : तो फिर रसिक बाबा को पकडना होगा। वे तो किसी सभा के सदस्य बने बिना ही चिरकुमार व्रत पालन कर रहे हैं।

अक्षय : और सदस्य बनते ही इस बुढापे मे व्रत से हाथ धो बैठेंगे। हिल्सा मछली वैसे तो बड़े मजे मे रहती है, पर पकड़ते ही मर जाती है। —प्रतिज्ञा का भी यही हाल है, ग्रहण करते ही उसका सर्वनाश हो जाता है।

(रसिक का प्रवेश। रसिकबाबा के सिर पर आगे की ओर बाल नहीं है। मूँछें पक गई हैं, गौर वर्ण, दीर्घ आकृति।)

अक्षय . अरे पाखड, भड अकालकूष्माण्ड।

रसिक : क्यो रे, मत्त-मन्थर-कुज-कुजर पुज-अजन-वर्ण।

अक्षय : तुम मेरी सालियो के पुष्प-वन मे दावानल लाना चाहते हो ?

शैलबाला : रसिक बाबा, भला इसमे तुम्हारा क्या लाभ है ?

रसिक : भई, सह नही पाया, क्या करूँ। साल पर साल तुम्हारी बहनो की उम्र बढती जा रही है, बडी माँ इसके लिए मुझे दोष क्यो देती हैं। कहती हैं, दोनो वक्त बैठे-बैठे रोटियाँ तोडते हो, लड़कियो के लिए दो पात्र ढूँढ़कर नही ला सकते। अच्छा जीजी, मै तो भूखा रहने को तैयार हूँ, पर क्या उससे वर मिल जायँगे, या तेरी बहनों की उम्र घटने लग जायगी ? उधर जिनके लिए वर नही मिल रहे है, वे खूब मजे से खा-पी रही है। शैल बेटी, 'कुमारसम्भव' मे पढा है न, याद है ?—

स्वयं विशीर्ण द्रुमपर्ण वृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां
वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥

तो भई, पार्वती ने अपना वर खोजने के लिए खुद खाना-पीना छोड़कर तपस्या की थी—लेकिन नातिनो के लिए वर नही मिल रहे हैं इसलिए मैं बूढ़ा आदमी खाना-पीना छोड़ दूं, वडी माँ का यह कैसा न्याय है भला ? अहा हा, शैल, वह याद है न ? "तदप्य-पाकीर्णमतः प्रियंवदां—"

शैलवाला : याद तो है बाबा, लेकिन इस समय कालिदास अच्छा नही लगता।

रसिक : तब तो कहो, बड़ा बुरा समय आ गया है।

शैलवाला : इसीलिए तो तुमसे सलाह लेनी है।

रसिक : सो मैं तैयार हूँ। जैसी सलाह चाहोगी वैसी ही दूंगा। अगर 'हाँ' कहलाना चाहोगी तो 'हाँ' कहूँगा, 'ना' कहलाना चाहोगी तो 'ना' कहूँगा। मुझमें यही तो गुण है। मैं सबकी राय में राय मिलाता रहता हूँ इसलिए सब मुझे अक्सर अपने ही बराबर बुद्धिमान समझते है।

अक्षय : तुमने बहुत-सी तरकीबो से अपना रग जमा रखा है। उनमे से एक है, तुम्हारा यह गंजापन।

रसिक : और एक है—'यावत् किंचिन्न भाषते'—तभी तो मैं बाहर के लोगो के साथ ज्यादा बात नही करता—

शैलवाला : हम लोगो से शायद उसीकी कसर निकालते हो ?

रसिक : तुम लोगों ने मुझे वश में जो कर लिया है।

शैलवाला : वश मे कर लिया है तो चलो, जो कहूँगी करना पड़ेगा।

रसिक : भय की कोई बात नही दीदी। मैंने ऐसे कुलीन लड़के जुटाये है जो कन्या-दान के दुःख से भी हजार गुने दुखदायी है। उन्हे देखते ही वडी माँ अपनी वेटियों के लिए इस घर मे चिरकुमारी सभा स्था-पित कर डालेगी। चलूं, उन्होने बुलवाया है।

(प्रस्थान)

शैलवाला : मूखर्जी बाबू !

अक्षय : आज्ञा।

शैलवाला : इन कुलीन लडको को किसी उपाय से भगाना होगा।

अक्षय : हाँ, सो तो होगा ही।

गीत—६

देखता हूँ, कौन तुम्हारे पास आता है। तुम एकेश्वरी रहोगी, बस एक मैं तुम्हारी वगल में रहूँगा।

शैलवाला : (हँसकर) एकेश्वरी ?

अक्षय : न हो, तुम लोग 'चारईश्वरी' हो जाना। शास्त्र में लिखा है 'अधिकंतु न दोषाय'।

शैलवाला : और तुम अकेले ही रहोगे। उसमे शायद यह अधिकतु वाली वात लागू नही होती ?

अक्षय : उस वारे मे शास्त्र का एक और पवित्र वचन है—
'सर्वमत्यन्तगर्हितम्।'

शैलवाला लेकिन मुखर्जीवावू, यह पवित्र वचन हमेशा तो चलेगा नही। और भी तो संगी जुटेंगे।

अक्षय : तो क्या तुम्हारे इस एकसाला वंदोवस्त की जगह दससाला वंदोवस्त होगा ? देखा जायगा, तव कोई नया ढग निकालेंगे। लेकिन तव तक मैं इन कुलीन लड़को-फड़को को पास भी नही फटकने दूँगा।

(नौकर का प्रवेश)

नौकर : दो जने आए है।

(प्रस्थान)

शैलवाला : यह लो, शायद वे आ गए। जीजी और माँ तो भण्डार मे लगी हुई है, उन्हे छुट्टी मिलने के पहले ही किसी तरह इन्हे टरका दो।

अक्षय : वख्शीश क्या मिलेगी।

शैलवाला : हम सव सालियाँ मिलकर तुम्हे राजा शालीवाहन[1] की उपाधि देंगी।

---

१. वँगला उच्चारण में मध्य 'य' का लोप हो जाता है इसलिए 'श्याली' (जिसका अर्थ है साली) 'शाली' की भाँति वोला जाता है। उसीके आधार पर 'शालीवाहन' में श्लेष है। उसका अर्थ 'श्यालीवाहन' भी हो सकता है।

अक्षय : शालीवाहन दि सैकिण्ड।

शैलवाला : सैकिण्ड क्यों होने लगे भला। इतिहास से उस शालीवाहन का नाम-निशान मिट जायगा। तुम होगे 'शालीवाहन दि ग्रेट'।

अक्षय : सच ! मेरे राजकाज से संसार मे नया संवत् चलेगा ?

गीत—७

तुम मुझे बड़ा आदमी बनाओगी। अपने इन प्रसन्न नयनों से मेरे माथे पर राजतिलक करोगी।

(शैलबाला का प्रस्थान। मृत्युंजय और दारुकेश्वर का प्रवेश)

(एक जना बुरी तरह से लम्बा है। दुबला-पतला, बूट जूते पहने, घुटनों तक की धोती, आँखों के नीचे स्याह दाग, मलेरिया के रोगी का-सा चेहरा, उम्र बाईस से लेकर बत्तीस तक चाहे जो हो सकती है। दूसरा जना ठिगना, नाटा है, दाढ़ी-मूँछ से बुरी तरह ढँका हुआ, बटिया-सी नाक, स्तूपाकार सिर, काला-कलूटा, गोल गाल।)

अक्षय : (बड़े सौहार्द से उठकर जोर से शेकहैंड करते हुए) आइए मिस्टर नैथेनियल, आइए मिस्टर जेरेमिया, बैठिए-बैठिए। अरे कोई है, बरफ का पानी ले आ रे, हुक्का दे जा—

मृत्युंजय : (अचानक विजातीय संभाषण से सहमकर कोमल स्वर में) जी, मेरा नाम है मृत्युंजय गागुली।

दारुकेश्वर : और मेरा नाम है श्री दारुकेश्वर मुखोपाध्याय।

अक्षय : छि: छि छि: छि:। आप अब भी इन नामो का व्यवहार करते हैं ? आप लोगो के क्रिश्चियन नाम क्या हैं ? (आगन्तुकों को हतबुद्धि और निरुत्तर देखकर) अभी तक नामकरण नही हुआ शायद। खैर, उससे कुछ खास नही आता-जाता। अभी बहुत समय है।

(अक्षय हुक्के की नली मृत्युंजय के हाथ में देता है। उसे इधर-उधर करते देखकर।)

कमाल है ! मेरे सामने भला कैसी शरम। सात साल की उम्र से चोरी-छिपे हुक्का पीते-पीते पक गया हूँ। धुएँ के मारे बुद्धि में जाले पड़ गए हैं। अगर शरम करनी पड़े तो मैं तो भद्र समाज में मुँह दिखाने लायक ही न रहूँ।

(तब साहस पाकर दारुकेश्वर चट-से मृत्युंजय के हाथ से नली छीनकर हुक्का

गुड़गुड़ाना शुरू कर देता है। अक्षय जेब से बर्मा का कटा चुरुट निकालकर मृत्युंजय के हाथ में देता है। यद्यपि उसे चुरुट पीने की आदत नहीं है फिर भी वह नई दोस्ती की खातिर प्राणों की बाजी लगाकर धीरे-धीरे दम लगाने लगता है और जैसे-तैसे खांसी रोकता है।)

अक्षय : तो अब काम की बात शुरू की जाए, क्या राय है ? (मृत्युंजय चुप रहता है।)

दारुकेश्वर : और नहीं तो क्या ! शुभस्य शीघ्र।

अक्षय : (गम्भीर होकर) मुर्ग या मटन ?

(मृत्युंजय अवाक होकर सिर खुजलाने लगता है। दारुकेश्वर बिना समझे-बूझे जोर से हँसने लगता है।)

अजी जनाब, नाम लेते ही हँसी। तब तो सूँघते ही बेहोश हो जाएँगे और पत्तल पर आते-आते तो दम ही निकल जायगा। खैर, जो हो, तय करके बताइए—मुर्ग हो या मटन !

(अब उन दोनों की समझ में आया कि भोजन की बात हो रही है। डरपोक मृत्युंजय निरुत्तर होकर सोचने लगता है। दारुकेश्वर जीभ लपलपाता एक बार चारों ओर देखता है।)

डर किसका है जनाब—नाचने चले तो घूंघट।

दारुकेश्वर : (दोनों हाथों से दोनों पैरों को थपथपाते हुए हँसकर) तो फिर मुर्ग ही ठीक है। कटलेट, क्या राय है ?

मृत्युंजय : (साहस पाकर) मटन मे ही क्या बुराई है भाई। चौप !

अक्षय : डर किसका है भैया, दोनो ही हो। बेमन से खाने में मजा नही आता। (नौकर को पुकारकर) अरे ए, किनारे पर जो होटल है वहाँ से कलीमुद्दीन खानसामा को तो बुला ला। (अँगूठे से मृत्युंजय के शरीर को दबाते हुए कोमल स्वर में) बियर, या शैरी ?

(मृत्युंजय शरमाकर मुँह फेर लेता है।)

दारुकेश्वर : व्हिस्की का इन्तजाम नही है शायद ?

अक्षय : (पीठ थपथपाते हुए) है क्यो नही, आखिर मैं कैसे जीता हूँ।

गीत—८

अगर अभय दो तो मै अपनी इच्छा बताऊँ। छटाँक-भर सोडा वाटर में तीन पाव व्हिस्की।

(क्षीण प्रकृति मृत्युजय को पूरे जोर से हँसना अपना कर्त्तव्य जान पड़ता है और दारुकेश्वर चट-से एक किताब उठाकर पटापट बजाने लगता है।)

दारुकेश्वर : दादा, गीत पूरा कर डालो!

गीत—९

अगर अभय दो तो मै अपनी इच्छा बतलाऊँ।

अक्षय : (मृत्युंजय को ठेलते हुए) गाओ जी, तुम भी गाओ न। (मृत्युंजय शरमाते हुए अपनी इज्जत बचाने के लिए धीमे स्वर में योग देता है। अक्षय डेस्क को थपथपाकर बजाने लगता है। एक जगह अचानक रुककर गम्भीर होकर) अरे हाँ, असली बात तो पूछी ही नही। इधर तो सब ठीक-ठाक है —आप लोग किस शर्त पर राजी होगे।

दारुकेश्वर : हमे विलायत भेजना होगा।

अक्षय : सो तो होगा ही। तार काटे विना क्या शैम्पेन की डाट खुलती है। आप-जैसे लोगों की विद्या-बुद्धि स्वदेश मे दबी रह जाती है। बंधन काटते ही तुरन्त आँख, नाक, मुँह से उफन उठेगी।

दारुकेश्वर : (अत्यन्त प्रसन्न होकर अक्षय का हाथ पकड़कर दबाते हुए) दादा, यह काम तो तुम्हे करना ही पड़ेगा। समझे?

अक्षय : इसमे क्या मुश्किल है? लेकिन बैप्टाइज्ड तो आज ही होगे न!

दारुकेश्वर : (हँसते-हँसते) सो क्यो?

अक्षय : (तनिक आश्चर्य से) क्यो, बात हो चुकी है न, रैवरैण्ड विश्वास आज रात ही आ रहे हैं। बैप्टिज्म के विना तो क्रिश्चियन रीति से विवाह नही हो सकता।

मृत्युजय : (अत्यन्त सहमकर) क्रिश्चियन रीति कैसी जनाब!

अक्षय : आप तो जैसे आसमान से गिरे। यह नही हो सकता—बैप्टिज्म का काम तो जैसे भी हो आज रात ही पूरा करना है। मैं अब किसी तरह नहीं छोड़ूँगा।

मृत्युजय : आप लोग क्रिश्चियन है क्या ?

अक्षय : यह नखरा रहने दीजिए जनाब, जैसे कुछ जानते ही न हो।

मृत्युजय : (अत्यन्त डर से) जनाब, हम लोग हिन्दू है, ब्राह्मण के बेटे। जात नही जाने देंगे।

अक्षय : (अचानक ज़ोर से डपटकर) जात कैसी जनाब ? एक तो कलीमुद्दीन के हाथ का मुर्ग खायेंगे, विलायत जायँगे, ऊपर से जात ?

मृत्युजय : (घबराकर) बस-बस-बस, चुप रहिए। कही कोई सुन ले।

दारुकेश्वर . आप परेशान न हो जनाब, ज़रा सलाह कर ले।
(मृत्युजय को अलग ले जाकर) विलायत से लौटने पर एक बार तो प्रायश्चित्त करना ही पड़ेगा—तभी डबल प्रायश्चित्त करके फिर से अपना धर्म अपना लेगे। यह मौका हाथ से निकल गया तो फिर विलायत नही जा पायेंगे। देख तो चुके, कोई भी ससुर राजी नही हुआ। फिर भैया, जब क्रिश्चियन का हुक्का ही पी लिया तो फिर क्रिश्चियन होने मे और बाकी ही क्या रहा गया ?
(अक्षय के पास आकर) विलायत जाने की बात तो पक्की है न ? तो फिर हम क्रिश्चियन होने के लिए तैयार है।

मृत्युजय . पर आज की रात रहने दो।

दारुकेश्वर : जब होना ही है, तो फिर चटपट खत्म करके पार हो लेना ही अच्छा, मैं तो पहले ही कह चुका हूँ शुभस्य शीघ्र।
(इसी बीच नेपथ्य में महिलाओ के आने की हलचल। दो थालियों में फल, मिष्टान्न, लूची और बरफ-जल लिये नौकर का प्रवेश।)

दारुकेश्वर . क्यो जनाब, अभागो की तकदीर से मुर्गा बेटा क्या उड़ गया ? कटलेट कहाँ है ?

अक्षय : (धीमे से) आज इसीसे काम चलने दीजिए।

दारुकेश्वर : यह कैसे हो सकता है जनाब ! आस बँधाकर निराशा ? ससुराल मे आकर खाने के लिए क्या मटनचौप भी नही मिलेगी ? और यह तो बरफ-जल है जनाब, मेरा सर्दी का कोठा ठहरा, खाली पानी नही मिलता। (गाते हुए) **अगर अभय दो तो मै अपनी इच्छा बतलाऊँ।**

अक्षय : (मृत्युंजय को कोचकर) गाओ न भइया, तुम भी गाओ—चप क्यो

हो। (गीत का जोश खत्म होने पर थाली की ओर इशारा करके) यह क्या बिलकुल नही चलेगा ?

दारुकेश्वर : (हडबडाकर) जी नही, यह रोगियो का पथ्य नही चलेगा। मुर्ग न खाने के मारे ही तो भारतवर्ष रसातल मे चला गया।

अक्षय : (कान के पास आकर लखनऊ की ठुमरी गाता है।)

गीत—९ (अ)

सिर्फ दाल-भात पानी के पथ्य के सहारे भारत कब तक बना रहेगा, बोलो !

(दारुकेश्वर उत्साह से गाने लगता है और मृत्युंजय भी अक्षय की गोपन कोंच खाकर शरमाता हुआ धीरे-धीरे शामिल हो जाता है।)

अक्षय : (दुबारा कानों-कान सिखाता हुआ)

गीत—९ (आ)

देश में अन्न-जल का घोर अभाव है। अब व्हिस्की, सोडा, मुर्ग और मटन की शरण लो।

(दारुकेश्वर मतवाला होकर जोर से यह पद गाने लगता है और अक्षय के अगूठे की प्रबल उकसाहट से मृत्युंजय भी जैसे-तैसे उनमें योग देता है।)

गीत—९ (इ)

अक्षय : (धीमे से) **जाओ, चैतन्य ठाकुर, तुम अपनी चुटिया लेकर अपना रास्ता लो। आओ कलीमुद्दीन मियाँ, अपनी दाढ़ी फहराते आओ।**

(गाने में जैसे-तैसे जोश आता है, दरवाजे के पास से कानाफूसी की आवाज सुनाई पडने लगती है और अक्षय भोले-भाले अबोध व्यक्ति की तरह रह-रहकर कनखियों से उधर देखता रहता है। तभी हाथ में मैला झाडन लिये कलीमुद्दीन आकर सलाम करके खडा हो जाता है।)

दारुकेश्वर : (कलीमुद्दीन से) आओ चाचा, आओ ! आज क्या-क्या पका है, बोलो ! अक्षय बाबू, करी या कटलेट।

अक्षय : (नेपथ्य की ओर कटाक्ष करते हुए) अब आप लोग जो ठीक समझे।

दारुकेश्वर : मेरा तो खयाल है, ब्राह्मणेभ्यो नम. कहकर सभीकी पूजा की जाय।

अक्षय : बिलकुल ठीक है, वे सभी पूजा के लायक है।

(कलीमुद्दीन सलाम करके चला जाता है।)

अक्षय (जरा स्वर चढ़ाकर) तो क्या श्रीमान् आज रात को ही क्रिश्चियन होना चाहते है ?

दारुकेश्वर : मैं तो कह ही चुका हूँ, शुभस्य शीघ्र। आज ही क्रिश्चियन होगे, इसी वक्त क्रिश्चियन होगे, पहले क्रिश्चियन होगे तब दूसरी बात होगी। जनाब, पालक का साग और मसूर की दाल खाकर अब जिन्दा नही रहा जा सकता। बुला लाइए न अपने पादरी को।

(उच्च स्वर से गाता है)

गीत—६ (ई)

जाओ चैतन्य ठाकुर, तुम अपनी चुटिया लेकर अपना रास्ता लो।
जाओ कलीमुद्दीन मियाँ, अपनी दाढ़ी फहराते जाओ।

(नौकर का प्रवेश)

नौकर : (अक्षय के कान में) माँजी बुलाती है।

(अक्षय उठकर दरवाजे के पास तक जाता है।)

जगत्तारिणी . यह क्या माजरा है ?

अक्षय : (गम्भीर भाव से) माँ ये बातें तो पीछे होगी, अभी तो वे व्हिस्की माँग रहे है, क्या करूँ ! तुम्हारे पैर मे मालिश के लिए वह ब्रांडी आई थी न, उसमे से क्या कुछ बची है ?

जगत्० : (हतबुद्धि होकर) क्या कहते हो बेटा ? ब्रांडी पिलाओगे ?

अक्षय : क्या करूँ माँ ! सुन तो चुकी हो, इनमे से एक लड़का तो ऐसा है जिसे पानी पीते ही जुकाम हो जाता है, और दूसरे के मुँह से शराब पिये बिना बात ही नही निकलती।

जगत्० : क्रिश्चियन होने की क्या बात कर रहे थे वे ?

अक्षय : कह रहे हैं, हिन्दू होने से खाने-पीने की बड़ी कठिनाई होती है। पालक का साग और मसूर की दाल खाने से उनकी तबियत खराब हो जाती है।

जगत्० : (अवाक् होकर) तो क्या इसीलिए आज रात को उन्हे मुर्गी खिलाकर क्रिश्चियन बना डालोगे ?

अक्षय : लेकिन माँ, अगर ये लोग नाराज होकर चले गए तो देखते-देखते

दो पात्र हाथ से निकल जायँगे। इसीलिए वे जो कुछ कह रहे हैं सब सुनना पड़ रहा है। (पुरवाला से) लगता है, मुझे भी शराब पिलायँगे।

पुरवाला : विदा करो, विदा करो, अभी विदा कर दो!

जगत्० : (घबराकर) बेटा, यहाँ मुर्गी-वुर्गी नहीं खा सकते। तुम उन्हें विदा कर दो। मेरी तो अकल मारी गई थी जो रसिक चाचा को पात्र खोजने का काम सौंपा। उनसे क्या कभी कोई काम हुआ है?

(महिलाओं का प्रस्थान। अक्षय कमरे में आकर देखता है कि मृत्युंजय भागने की तैयारी में है और दारुकेश्वर उसका हाथ पकड़कर खींच-तान करके उसे रोकने की चेष्टा कर रहा है। अक्षय की अनुपस्थिति में मृत्युंजय आगा-पीछा सोचकर घबरा उठा है।)

मृत्युंजय : (अक्षय से क्रुद्ध स्वर में) नहीं जनाब, मैं क्रिश्चियन नहीं बन सकता मुझे ब्याह नहीं करना।

अक्षय : तो जनाब, यहाँ कौन आपके पैरों पड़ रहा है?

दारुकेश्वर : मैं तो राज़ी हूँ जी।

अक्षय : राज़ी है तो गिरजे में जाइए न। मेरे तो सात पुरखों ने कभी किसी को क्रिश्चियन नहीं बनाया।

दारुकेश्वर : अभी आपने किसी विश्वास की बात की थी न—

अक्षय : वे टेरिटिर बाज़ार मे रहते है। उनका पता लिखे देता हूँ।

दारुकेश्वर : और ब्याह?

अक्षय : वह इस घर मे नहीं हो सकता?

दारुकेश्वर : तो अभी तक हुजूर मज़ाक कर रहे थे? भोजन भी क्या—

अक्षय : वह भी यहाँ नहीं।

दारुकेश्वर : कम-से-कम होटल मे?

अक्षय : हाँ, यह ठीक है।

(मनीबेग से कुछ रुपये निकालकर दोनों को विदा करते है। नृप का हाथ पकड़कर खींचती हुई नीरबाला वसंत के झोंके की भांति कमरे में आकर प्रवेश करती है।)

नीरबाला : मुखर्जीबाबू, जीजी तो दोनों मे से एक को भी नहीं छोड़ना चाहती।

नृपबाला : (नीर के गालों पर दो-तीन उंगलियों से चपत लगाती हुई) फिर झूठ बोली—

अक्षय : घबरा मत भई, सच-झूठ का भेद मैं थोड़ा-बहुत समझ लेता हूँ।

नीरबाला : अच्छा मुखर्जीबाबू, ये दोनो क्या रसिकबाबा के मजाक थे, या हमारी सँझलीजीजी के कु-ग्रह ?

अक्षय : क्या बंदूक की सभी गोलियाँ निशाने पर बैठती है ? ब्रह्मा निशाना लगाने की प्रैक्टिस कर रहे थे, ये दोनो बहक गए। शुरू-शुरू मे दो-चार बार ऐसा हो ही जाता है। इस अभागे के फँसने से पहले तुम्हारी जीजी की लग्गी से बहुत-से जलचरो ने टक्कर मारी थी, पर बंसी मेरे ही माथे मे बिधनी थी।
(माथा ठोकता है।)

नृपबाला : तो क्या अब रोज़-रोज़ ब्रह्मा की प्रैक्टिस चला करेगी मुखर्जीबाबू ? तब तो जीना मुश्किल हो जायेगा।

नीरबाला दुःख क्यो करती हो बहन। रोज़-रोज थोड़े ही चूकेगा। कोई-न-कोई तो निशाने पर बैठेगा ही।

(रसिक का प्रवेश)

नीरबाला . रसिकबाबा, अब हम भी तुम्हारे लिए पात्री जुटायेंगी।

रसिक : वाह-वाह, यह तो आनन्द का समाचार है।

नीरबाला : हाँ-हाँ, देखना कैसा आनन्द दिखाती है। खुद तो रहते है फूंस के घर मे और दूसरे के दालान मे आग लगाने चले ? हमारे हाथ मे क्या पलीता नहीं है ? अगर हमारे पीछे पड़े तो तुम्हारे दो-दो व्याह करा देगी। सिर मे जो थोडे-बहुत बाल है वे भी गायब हो जायंगे।

रसिक . देखो जीजी, दो साबुत जानवर पकड लाया था इसीलिए तो तुम्हारी जान बच गई। अगर ज़रा मध्यम जात के होते तो कितनी मुश्किल होती। वही जानवर भयानक होता है जो देखने मे जानवर नही लगता।

अक्षय : बिलकुल ठीक। मै तो मन-ही-मन डर रहा था, लेकिन पीठ पर ज़रा-सा हाथ फेरते ही खटाक-से पूँछ फटफटा उठी। लेकिन माँ ने क्या कहा ?

रसिक : उन्होने जो कुछ कहा वह पाँच जनों को बुलाकर सुनाने लायक नही है। वह बात मैंने मन में रख ली है। जो हो, अन्त में यही तय हुआ है कि वे काशी चली जायँगी अपने भानजे के पास। वहाँ पात्रो का भी पता चला है और तीर्थ-यात्रा भी हो जायगी।

नीरवाला : सच रसिकबाबा ! तो क्या यहाँ हमारा रोज़-रोज़ नये नमूने देखना बन्द ?

नृपबाला : तेरा शौक अभी बाकी है क्या ?

नीरवाला : यह क्या भला शौक की बात है। यह तो शिक्षा है, शिक्षा। दिन-प्रतिदिन बहुत-से दृष्टान्त देखते-देखते मामला आसान हो जायगा। फिर जिस प्राणी के साथ ब्याह करोगी उसे समझने मे कष्ट नही होगा।

नृपबाला : अपने प्राणी को तुम समझ लेना, मेरी फिक्र न करो !

नीरबाला : अच्छी बात है, तुम अपनी फिक्र करो, मैं अपनी। लेकिन रसिक-बाबा को हम अपने लिए फिक्र नही करने देगी।

(नृपबाला और नीरबाला का प्रस्थान। शैलबाला का प्रवेश)

शैलबाला : रसिकबाबा, तुमसे एक सलाह लेनी है।

अक्षय . अच्छा शैल यह बात ! आज रसिकबाबा राजमंत्री हो गए। मुझे धता बता दी।

शैलबाला : (हँसकर) तुम्हारे साथ क्या मेरा सलाह करने का नाता है मुखर्जी-बाबू। सलाह तो बुड्ढो से ली जाती है।

अक्षय : तो फिर राजमत्री-पद के लिए मैं अपनी दरख्वास्त वापस लेता हूँ।

(अचानक जोर-जोर से खमाच में गाता है)

गीत—१०

मै तो बस तुम्हारे गुलाबी हाथों के लिए फूल जुटाऊँगा।
पहरा या सलाह देने में मेरी अकल काम नही करती।

शैलबाला : रसिकबाबा, हम लोग 'चिरकुमार सभा' की सदस्या बनेगी, तुम बनोगे मेरे वाहन।

रसिक : विष्णु भगवान् ने नारी का छद्मवेश धारण करके पुरुष को मोहित किया था शैल, अगर तू पुरुष का छद्मवेश धारण करके पुरुष को

मोहित कर सकी तो मै भगवत्-भक्ति छोडकर बाकी उम्र तेरी ही पूजा मे काट दूंगा। लेकिन अगर माँ को पता चल गया तो ?

शैलबाला : तीन-तीन बेटियो के ध्यान से ही माँ का मन इतना व्याकुल हो उठता है कि वे हम लोगो की कोई खोज-खबर नही ले पाती। उनकी फिक्र न करो।

रसिक : लेकिन किस तरह सभा मे सभ्यता[1] करनी पड़ती है यह मैं नही जानता।

शैलबाला : कोई बात नही, मैं किसी तरह काम चला लूंगी। आवेदन-पत्र के साथ प्रवेश-शुल्क के दस रुपये भी भेज चुकी हूँ। पर रसिकबाबा, माँ के साथ तुम्हारा काशी जाना तो नही हो सकता।

अक्षय . माँ के साथ काशी जाने के लिए मैं और किसी को ठीक कर दूंगा, उसकी फ़िक्र नही।

शैलबाला : मुखर्जीबाबू, तुमने तो उन्हे पूरा बन्दर बना डाला—मुझे तो आखिर मे बेचारों पर दया आने लगी थी।

अक्षय : बन्दर क्या किसी को कोई बना सकता है शैल, उसे तो परमा प्रकृति खुद ही बनाती हैं। बस भगवान् की विशेष अनुकम्पा होनी चाहिए। ठीक उसी तरह जैसे कवि होते है, और क्या ? पूंछ कहो या प्रतिभा, अगर पहले से ही भीतर न हो तो ज़बर्दस्ती खीच-तान से बाहर नही निकाली जा सकती।

(पुरबाला का प्रवेश)

पुरबाला : (कैरोसीन लैम्प को उठाकर हिला-डुलाकर) बैयरा न जाने कैसी लालटेन दे गया है, टिमटिमा रही है। मैं तो कहते-कहते हार गई।

अक्षय : वह बेटा जानता है न, मै अँधेरे मे ही ज्यादा जँचता हूँ।

पुरबाला : उजाले मे नही जँचते ? तकल्लुफ कर रहे हो ? यह तो आज नई बात दिखाई पड़ी।

अक्षय : मेरा मतलब है, बैयरा बेटा मुझे चाँद समझता है।

पुरबाला : अच्छा जी ! तो फिर उसकी तनख्वाह बढा दो। लेकिन रसिक-

---

१. सभ्य के दोनों अर्थ है, सदस्य और सुसंस्कृत। इसी प्रकार सभ्यता का एक अर्थ सदस्यता भी है। जहां-जहा यह श्लेष है, वहाँ-वहा मेम्बर के स्थान पर 'सभ्य' का ही प्रयोग किया गया है।

वावा, आज यह क्या काण्ड कर डाला।

रसिक : भई, वर तो ढेरो मिल सकते है; पर सभी विवाह-योग्य नही होते, वस इसीका एक मामूली-सा उदाहरण दिया है।

पुरबाला : इसका उदाहरण न देकर अगर दो-एक विवाह-योग्य वरों का उदाहरण देते तो अच्छा होता।

शैलवाला : उसका ज़िम्मा मैने लिया है जीजी।

पुरबाला : सो मैं खूब समझती हूँ। कई दिन से तुममे और तुम्हारे मुखर्जीबाबू मे जिस तरह सलाह चल रही है, उससे लगता है, कोई-न-कोई काण्ड होकर रहेगा।

अक्षय : किष्किन्धाकाण्ड तो आज हो गया।

रसिक : वस अव लकाकाण्ड की तैयारी है। चिरकुमार सभा की स्वर्णलका मे आग लगाने जा रहे है।

पुरवाला : शैल उसमे क्या है ?

रसिक : कम-से-कम हनुमान नही है।

अक्षय : वे ही तो है साक्षात् अग्नि।

रसिक : वस कोई एक जना उन्हे अपनी पूंछ मे लपेटकर ले जायगा।

पुरबाला : मेरी समझ मे तो कुछ नही आता। शैल, तू क्या चिरकुमार सभा मे जायगी।

शैलबाला : हाँ, मैं सभ्य वनूंगी न !

पुरवाला : न जाने क्या कहती है। भला लडकियाँ क्या सभ्य होगी ?

शैलवाला : आजकल तो लड़कियाँ भी सभ्य होने लगी है। इसलिए मैंने तय किया है कि साडी छोडकर अचकन पहनूंगी।

पुरवाला : समझ गई। शायद छद्म-वेश मे सभ्य होने जा रही है। वाल तो कटवा ही डाले हैं, वस इसीकी कसर थी। तुम जो चाहे करो, मैं इस घपले मे नही हूँ।

अक्षय . हरे हरे, कही तुम इस दल मे न शामिल हो जाना। और जो चाहे पुरुष हो जाय, लेकिन मेरे भाग्य से तुम हमेशा नारी ही वनी रहना—नही तो व्रीच आफ कट्रैक्ट—बड़ा सगीन मामला होता है।

गीत—११

हे मेरे चिर-परिचित चाँद ! तुम सदा ऐसे ही बने रहो, यही मेरी कामना है। तुम्हारी पुरानी हँसी, पुरानी सुधा, मेरी पुरानी भूख मिटाती रहे—कहीं किसी नये चकोर को यह प्रसाद न मिल जाय।

(पुरबाला का प्रस्थान)

कोई डर नहीं; गुस्सा उतरते ही मन निर्मल हो जायगा—थोड़ा-बहुत अनुताप भी होगा—बस, समझो तभी मौका मिलेगा।

रसिक : कोपो यत्र भृकुटिरचना, निग्रहो यत्र मौनं,
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो यत्र दृष्टिः प्रसादः।

शैलबाला : रसिकबाबा, तुम तो मजे से श्लोक झाड़े जा रहे हो—कोप किसे कहते हैं इसका पता तो मुखर्जीबाबू को चलेगा।

रसिक : अरे भई, मैं तो अदला-बदली करने को तैयार हूँ। अगर मुखर्जीबाबू श्लोक झाड़े और गुस्सा मुझ पर उतरे तो मैं तो अपने इस फूटे कपाल को सोने से मढ लूँ।

शैलबाला : मुखर्जीबाबू !

अक्षय : (बड़े त्रस्त होकर) फिर मुखर्जीबाबू ! इन बालखिल्य मुनियों का ध्यान-भग करने के मामले में मैं नहीं पड़ूँगा।

शैलबाला : ध्यान-भग तो हम कर लेंगी। बस किसी तरह ये मुनिकुमार इस घर मे आ जायँ।

अक्षय : तो क्या पूरी सभा की सभा उखाडकर लानी पड़ेगी ? जितने भी दुष्कर कार्य हैं, सब इस एक मुखर्जीबाबू के सिर ?

शैलबाला : (हँसकर) महावीर बनने मे यही तो मुश्किल है। जब गंधमादन की जरूरत पड़ी थी तब नल-नील-अगद को तो किसी ने पूछा तक न था।

अक्षय : क्यो री कलमुँही, त्रेतायुग के इस कलमुँहे के अलावा तेरे मन मे और कोई उपमा भी न आई। इतना प्रेम है !

शैलबाला : हाँ जी, हाँ, इतना प्रेम है।

गीत—१२

इस कलमुँहे मन में तो बस कलमुँहे ही बसते हैं। यों तो ढेरो लोग हैं, पर इन झुलसी हुई आँखों को और कोई दीखता ही नहीं।

अक्षय : अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। मैं उन पतगो को घेरकर लौ के पास ले जाऊँगा। वस अव तुम झट-से मुझे एक पान ला दो—अपने हाथ से वनाकर!

शैलबाला : क्यो, जीजी के हाथ का—

अक्षय : अरे, जीजी के हाथ तो अपने हो ही चुके है, नही तो पाणिग्रहण और किसलिए होता है। अव जरा दूसरे कमल-करो पर नजर डालने की फुरसत मिली है।

शैलबाला : अच्छा जी। तो फिर ये कमल-कर तुम्हारे पान मे इतना चूना डाल देंगे कि तुम्हारा जला हुआ मुँह और भी जल जायगा।

गीत—१३

जिस पर मरण-दशा श्रा जाती है, वह बार-बार मरता रहता है। झुलसा पतिंगा ज्यों-ज्यों झुलसता जाता है त्यों-त्यो श्रौर श्राग में कूदता जाता है।

शैलबाला : मुखर्जीबाबू, यह कागज का गोला कैसा है?

अक्षय : तुम लोगों की सदस्यता का यह आवेदन-पत्र और प्रवेश-शुल्क के दस रुपये का नोट मेरी पाकेट मे थे, धोबी के वच्चे ने इसे धो-धोकर ऐसा साफ कर दिया है कि अव एक भी अक्षर दिखाई नही पडता। लगता है, वेटा नारी-स्वाधीनता का कट्टर विरोधी है, तभी तो उसने तुम्हारा यह आवेदन-पत्र शुरू से आखिर तक सशोधित कर डाला है।

शैलबाला : अच्छा, यह वात है।

अक्षय . तुम चारो ने मिलकर मेरी स्मरण-शक्ति जो घेर रखी है, और क्या कुछ भी याद रहने देती हो।

गीत—१४

यह भुलक्कड़ मन सब-कुछ भूल गया है। बस एक तुम्हारा चन्द्रानन नहीं भूल पाया!

(शैल श्रौर रसिक का प्रस्थान। पुरवाला का प्रवेश)

अक्षय . स्त्री का एक-मात्र तीर्थ है पति। मानती हो या नहीं?

पुरबाला मैं क्या पडितजी के पास शास्त्र का विधान लेने आई हूँ। आज माँ के साथ काशी जा रही हूँ। वस, यही खवर देने आई थी।

अक्षय : यह कोई अच्छी खबर नही है—सुनते ही बख्शीश मे तुम्हे शाल-दुशाला दे डालने की इच्छा नही होती।

पुरबाला : ओ हो, छाती फटी जा रही है क्या? सचमुच? झेल नही पा रहे हो ?

अक्षय मैं सिर्फ इस वियोग की बात नही सोच रहा हूँ—दो-चार दिन तुम न रही न सही, और भी कई जने हैं। किसी-न-किसी तरह इस अभागे का काम चल जायगा। लेकिन उसके बाद क्या होगा ? देखो, कही धरम-करम के मामले मे पति से आगे मत निकल जाना—नही तो जब स्वर्ग मे तुम्हे डबल प्रमोशन मिलेगा तो मैं पिछड़ जाऊँगा। तुम्हे तो विष्णु-दूत रथ मे बैठाकर ले जायेंगे और मुझे यमदूत कान पकडकर पैदल दौड़ायेंगे—

गीत—१५

तुम्हें तो वे उड़ाकर स्वर्ग में ले जायेंगे, मैं पीछे-पीछे लँगड़ाता चलूँगा। मन करेगा कि चुटिया का छोर पकडकर विष्णुदूत का सिर फोड़ डालूँ।

पुरबाला : बस-बस, रहने भी दो।

अक्षय : मैं तो रह जाऊँ, बस एक तुम्ही चलती जाओगी? क्या यही उन्नीसवी शताब्दी का विधान है ? सचमुच जा रही हो !

पुरबाला : हाँ, जा रही हूँ।

अक्षय : मुझे किसके हाथ सौंपे जा रही हो ?

पुरबाला . रसिकबाबा के हाथ।

अक्षय : औरत हो न ! ट्रांसफर का कानून बिलकुल नही जानती। इसीलिए विरहावस्था मे उपयुक्त हाथ खोजकर खुद ही आत्मसमर्पण करना पडता है।

पुरबाला : तुम्हे ज्यादा खोजबीन तो करनी नही पड़ेगी।

अक्षय : सो तो ठीक है।

गीत—१६

अपने प्राण किसके हाथ सौंपूं, यही सोचते-सोचते बेला बीती जा रही है। जब दाहिनी ओर नजर डालता हूँ, तो मन बाईं ओर के लिए व्याकुल हो उठता है, और जब बाईं ओर घूमता हूँ, तो दाहिनी ओर से आकर्षण आने लगता है।

खैर, मेरे लिए तो फिर भी सान्त्वना के दो-तीन सदुपाय है, लेकिन तुम—

गीत—१७

विरह यामिनी कैसे काटोगी ? जब विच्छेद की अग्नि तपायगी तो बिस्तर पर करवटें बदलने लग जाओगी। विवश होकर कामदेव को शाप देती रह जाओगी।

पुरबाला : बख्शो, यह तुकबंदी यही रहने दो।

अक्षय : दु ख के समय मैं रुक नही पाता—कविता अपने-आप फूट निकलती है। अगर तुकबंदी पसन्द न हो तो अमित्राक्षर ही सही, जब तुम विदेश में होगी तब मैं 'आर्त्तनाद-वध' नामक एक काव्य लिखूंगा। लो उसका प्रारंभ तो सुनो—

(सस्वर पाठ)

वाष्पीय शकट चढ़ नारी-चूड़ामणि
चली गई पुरबाला जबका शी-धाम को
असमय, बोलो देवि हे अमृतभाषिणी
कौन-सी वरांगना को वर ,वरमाल्य से
बिताया विच्छेद-मास तीन-साली-शाली
श्री अक्षय ने ![1]

पुरबाला : (गर्व से) तुम मेरा सिर खाओ[2], मज़ाक नही, तुम सचमुच कोई काव्य लिखो न !

अक्षय : अगर सिर खाने को कहती हो, तो मैं खुद अपना सिर खाकर देख चुका हूँ, उसकी गिनती सुखाद्य मे नही की जा सकती। रही काव्य लिखने की बात; तो यह काम भी मुझे सुसाध्य नही जान पड़ता। मेरी बुद्धि मे कही कोई छेद है, काव्य इकट्ठा नही हो पाता—हुचक-हुचककर बाहर निकल पड़ता है।

---

१. बंगला के महाकवि माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद-वध' काव्य की प्रारम्भिक पंक्तियों की हास्यानुकृति।

२. बंगला में सिर की कसम दिलाने का यही शब्द रूप है। अपने उत्तर में अक्षय इसके सहारे एक व्यंग्य करता है, इसलिए इसका शाब्दिक अनुवाद देना उचित लगा।

गीत—१८

तुम्हें पता है मेरे पेड़ मे फल क्यों नहीं फलते—ज्यों ही फूल फूटते हैं मै उन्हें तुम्हारे चरणों में लाकर धर देता हूँ।

लेकिन मेरे सवाल का तो कोई जवाब नही मिला। कौतूहल के मारे मरा जा रहा हूँ। काशी जाने का यह उत्साह आखिर किसलिए ? विष्णु-दूत को तो खैर मैंने मन-ही-मन क्षमा कर दिया, लेकिन भगवान् भवानीपति भूतनाथ के अनुचरों पर मुझे बड़ा सदेह है। सुना है, उनके नन्दी और भृंगी बहुत-सी बातों मे मुझे भी मात करते हैं। हो सकता है लौटने पर तुम्हे अपना यह सेवक पसद न रहे।

पुरबाला : मैं काशी नही जाऊँगी।

अक्षय : यह क्या बात हुई ? भूतभावन भगवान् के जो गण एक बार मरकर भूत हो चुके है वे कही फिर न मर जायँ।

(रसिक का प्रवेश)

पुरबाला : आज तो रसिकबाबा का चेहरा बड़ा खिला पड़ रहा है।

रसिक : भई तेरे रसिकबाबा के चेहरे का यह रोग दूर ही नही होता। न बात, न चीत, फिर भी हमेशा खिला रहता है—विवाहित लोग देख-देखकर मन-ही-मन कुढते रहते हैं।

पुरबाला : सुन रहे हो न, विवाहित लोग ! इसका कोई माकूल जवाब देते जाओ !

अक्षय : हम लोगो की खुशी का पता इस बुड्ढे को कहाँ से लगेगा ? वह इतनी रहस्यमय है कि उसका भेद आज तक कोई नही पा सका—वह इतनी गहरी है कि हम खुद भी हाथ पैर पटककर हार गए, मिली ही नही। कभी-कभी तो सदेह होता है, है भी या नही।

पुरबाला : अच्छा, यह बात है !

(क्रुद्ध होकर जाने लगती है)

अक्षय : (उसको बुलाते हुए) दुहाई है तुम्हारी, इस आदमी के सामने रूठा-राठी मत करो—नही तो इसका घमण्ड और भी बढ़ जायगा। हे दाम्पत्य-तत्त्व से अनभिज्ञ वृद्ध, देखो—हम जब क्रोध करते है तब हमारी आवाज़ अपने-आप चढ़ जाती है, बस वही तुम्हें सुनाई

पड़ती है। पर जब अनुराग से हमारा गला रुँध जाता है, मुँह कान तक आते-आते बार-बार फिसल जाता है—उसकी तुम्हे कोई खबर नही मिलती।

पुरबाला : ऊँ-हूँ, चुप रहो !

अक्षय : जब गहनों की लिस्ट बनती है तब तो घर के मुनीम से लेकर सुनार तक सबको खबर पड जाती है, लेकिन जब बसत की रात में प्रेयसी—

पुरबाला : ऊँ-हूँ, बस करो।

अक्षय : बसत की रात मे प्रेयसी—

पुरबाला : ऊँ-हूँ, न जाने क्या-क्या बक जा रहे हो।

अक्षय : बसन्त की रात मे जब प्रेयसी गरजकर कहती है—मैं कल ही मैके चली जाऊँगी, अब मैं यहाँ एक पल भी नही रहना चाहती—मेरे हाड़ गल गए हैं—मेरे—

पुरबाला . अच्छा जी, जरा बताना, कब तुम्हारी प्रेयसी मैके जाने के लिए बसत की रात मे गरजी है ?

अक्षय . हिस्ट्री का इम्तहान ! घटना बताकर ही छुटकारा नही मिलेगा। सन्, तारीख तक मुँहजबानी गढकर बताने पड़ेगे। मैं क्या इतना प्रतिभाशाली हूँ !

रसिक : (पुरबाला से) समझ गया भई, वह सीधी तरह से तुम्हारी बात नही कह पाता—उसमे इतनी शक्ति ही नही है—इसीलिए उलटकर कहता है। प्यार से पूरा न पड़े तो गाली देकर प्यार जताना पडता है।

पुरबाला : बस मल्लिनाथजी, बस। तुम्हे व्याख्या करने की जरूरत नहीं। माँ ने आखिर मे तय किया है कि वे तुम्हीको काशी ले जायँगी।

रसिक : तो अच्छा तो है, इसमे डरने की क्या बात है ? तीर्थ करने की तो मेरी उम्र ही है। अब तुम्हारे लोल कटाक्ष इस बुड्ढे का कुछ नही बिगाड सकते—अब तो मन चन्द्रचूड़ के चरणो मे—

मुग्धस्निग्धविदग्धलुब्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतः सम्प्रति चन्द्रचूड़चरणध्यानामृते वर्तते।

पुरबाला : यह तो बड़ी अच्छी बात है—तुम्हारे ऊपर फिजूल कटाक्ष खरचना

हो, मेरा मन तो करता है कि इसे गले लगाकर सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दूँ।

अक्षय : (स्नेह-युक्त गंभीरता से छद्मवेषिणी को पल-भर निहारकर) सच कहता हूँ शैल, तुम अगर मेरी साली होने की बजाय मेरा छोटा भाई होती तो भी मै आपत्ति न करता।

शैलवाला : (कुछ विचलित होकर) मै भी कोई आपत्ति न करती, मुखर्जीवावू।

पुरवाला : (शैल को हृदय से लगाते हुए) इसी वेश मे तू कुमारसभा की सभ्य वनने जा रही है ?

शैलवाला : और किसी वेश मे जाऊँ तो व्याकरण न गलत हो जायगा जीजी ! क्यो रसिकवावा ?

रसिक : सो तो है ही, व्याकरण वचाकर तो चलना ही होगा। भगवान् पाणिनि-वोपदेव इत्यादि लोगो ने आखिर किसलिए जन्म लिया था। लेकिन भई, श्रीमती शैलवाला के वाद अचकन का प्रत्यय लगाने से ही क्या व्याकरण की रक्षा हो जायगी।

अक्षय : नवीन मुग्धबोध[1] मे यही लिखा है। मै लिखकर दे सकता हूँ, चिर-कुमार सभा के मुग्ध जनो को शैल जैसा प्रत्यय करायगी वे वैसा ही प्रत्यय कर लेंगे। मैं उन कुमारो की धातु जानता हूँ न।

पुरवाला : (तनिक दीर्घ निःश्वास लेकर) तू अपने इन मुखर्जीवावू और इस बुड्ढे हमजोली को लेकर अपना नाटक शुरू कर, मैं माँ के साथ काशी चली।

(पुरवाला असवाव ठीक करने जाती है, तभी नृपवाला और नीरवाला कमरे में प्रवेश करते ही भागने का उपक्रम करने लगती है। नीर दरवाजे की आड से फिर एक वार अच्छी तरह ताककर 'मॅझलीजीजी' कहती हुई दौडकर आती है।)

नीरवाला : मॅझलीजीजी, तुम्हे तो भई वॉहो मे भर लेने को मन करता है, पर यह अचकन रोक रही है। लगता है मानो तुम किसी रूपकथा के राजकुमार हो, सुनसान-वियावान पार करके हमारा उद्धार करने आए हो।

---

१. वोपदेव-रचित व्याकरण की प्रारंभिक पुस्तक।

(नीर की ऊँची आवाज़ से अश्वासन पाकर नृप भी कमरे में प्रवेश करके मुग्ध नेत्रों से निहारने लगती है।)

नीरवाला : (उसे अपने पास खीचती हुई) यो लोभियो की तरह क्यों ताक रही है ? जो सोच रही है वह नही है। यह तेरा दुष्यन्त नही—यह तो अपनी मँझलीजीजी है।

रसिक : **इयमधिकमनोज्ञा अचकनेनापि तन्वी।**
किमिव हि मधुराणा मंडन नाकृतीनाम्॥

अक्षय : अरी मूर्खाओ ! तुम सिर्फ अचकन देखकर ही लट्टू हो गई। गिलट का इतना दुलार ? और इधर यह असली सोना खड़ा-खडा हाहाकार कर रहा है।

नीरबाला : आजकल असली सोने का दाम वहुत चढ गया है, अपना यह गिलट ही अच्छा है। क्यो मँझलीजीजी ?

(शैल की नकली मूँछों पर ताव देने लगती है।)

रसिक : (अपनी ओर इशारा करके) यह असली सोना खूब सस्ता लगा दिया है भई, अभी किसी टकसाल मे किसी महारानी की छाप भी नही पड़ी है।

नीरवाला : अच्छी वात है, सँझली जीजी को दान किया। (रसिकवावा का हाथ पकडकर नृप के हाथ में सोप देती है) राजी तो है भई !

नृपबाला : हाँ, सो मैं राजी हूँ।

(रसिकवावा को कुर्सी पर बैठाकर वह उसके सिर के सफेद वाल चुनने लगती है। नीर शैल की नकली मूँछों पर ताव देकर उन्हें खड़ा करने की कोशिश करती है।)

शैलवाला : ऊँ-हूँ, क्या करती है ? मेरी मूँछे गिर जायँगी।

रसिक : जरूरत क्या है, इधर आ न भई, ये मूँछें कभी नही गिरेंगी।

नीरवाला : अच्छा ! फिर वही ! सँझलीजीजी के हाथो किसलिए सौंपा था। अच्छा रसिकवावा, तुम्हारे सिर मे तो अव भी दो-एक काले वाल है,—फिर मूँछे पूरी कैसे सफेद हो गई ?

रसिक : किसी-किसी का सिर पकने के पहले ही मुँह पक जाता है।

अक्षय : तो फिर मैं एक वार चिरकुमार-सभा के सिर पर हाथ फेर आऊं।

गीत—१९ (अ)

नीरबाला : जाओ, जय-यात्रा पर जाओ। चलो, अपने जय-रथ में बैठो। हम जयमाला गूँथकर आस लगाए बैठी रहेंगी। पथ की धूल में आँचल बिछाए बाट देखती रहेंगी और जब लौटोगे तो हे विजयी ! हम तुम्हें हृदय में वरण कर लेंगी।

अक्षय : रथ तैयार है, अब बोलो, क्या लेकर आऊँ।

गीत—१९ (आ)

नीरबाला : सजल नयनो की कोर में मुस्कान की रेखा लाना, शून्य वन में नव वसन्त की शोभा लाना, अँधेरे घर में सोने का प्रदीप जलाकर उजाला करना, रात के माथे पर चाँद का नया तिलक चढ़ाना।

अक्षय : और तो सब ठीक है, लेकिन तुम्हारी लिस्ट में सोने का यह प्रदीप कुछ महँगा लग रहा है। खैर, कोशिश मे कसर न रखूँगा।

नीरबाला : जीजी की यह सभा किस कमरे मे होगी मुखर्जीबाबू !

अक्षय : मेरे बैठकखाने में।

नीरबाला : तो फिर उस कमरे को जरा झाड़-पोछकर सजा आऊँ।

अक्षय : इतने दिनो से मैं उस कमरे में काम करता आया हूँ, पहले तो एक भी दिन उसे सजाने का मन नही हुआ ?

नीरबाला : तुम्हारे लिए झाड़ू-बैयरा है न। फिर भी मन नही भरा।

(पुरबाला का प्रवेश)

पुरबाला : तुम लोग यहाँ क्या कर रही हो ?

नीरबाला : मुखर्जीबाबू को पाठ सुनाने आई थी जीजी। सो वे कहते है कि जब तक मेरा बाहर का कमरा अच्छी तरह झाड़-पोंछकर न सजाया जायगा तब तक मै पढ़ाऊँगा ही नही। इसीलिए मँझली-जीजी और मैं उनका कमरा सजाने जा रही हैं। चल भई !

नृपबाला : तेरा मन करता है तो तू जा न कमरा सजाने—मैं नही जाती।

नीरबाला : वाह जी, मैं अकेली मेहनत करती मरूँ और फल मिले तुम सबको यह नही हो सकता।

(नृप को गिरफ्तार करके ले जाते हुए नीर का प्रस्थान)

पुरबाला : सामान तो सब ठीक कर लिया है, लगता है अभी गाड़ी मे देर है।

अक्षय : अगर मिस करना चाहो तो अभी बहुत देर है।

द्वितीय अंक

पहला दृश्य

चन्द्रबाबू का घर। चिरकुमार सभा का कमरा।

(श्रीश और विपिन)

श्रीश : कुछ भी कहो, जब अक्षयबाबू अपनी सभा मे थे तब अपनी चिर-कुमार सभा जमी खूब थी। अपने सभापति चन्द्रबाबू कुछ कडे है।

विपिन : उनके वक्त रस कुछ ज्यादा इकट्ठा हो गया था—चिरकौमार्य व्रत के लिए रस का आधिक्य अच्छा नही, मेरा तो यही मत है।

श्रीश : मेरा मत बिलकुल उल्टा है। अपना व्रत कठिन है इसीलिए तो रस की ज्यादा ज़रूरत है। सूखी जमीन मे फसल उगाने के लिए क्या सिंचाई की जरूरत नही होती ? जिन्दगी-भर ब्याह नही करेगे यही प्रतिज्ञा काफी है, फिर और तरफ से क्यो सूखे मरे।

विपिन : जो भी कहो, अचानक कुमार-सभा को छोड़कर ब्याह करके अक्षय-बाबू अपनी सभा को मानो ढीला कर गए है। भीतर-ही-भीतर हम सभीकी प्रतिज्ञा का बल घट गया है।

श्रीश : ज़रा भी नही। अपनी बात तो मैं कह सकता हूँ। मेरी प्रतिज्ञा का बल तो और भी बढ गया है। जिस व्रत का पालन अनायास सभी कर सके उसके प्रति श्रद्धा नही होती।

विपिन : एक शुभ सवाद देता हूँ, सुनो !

श्रीश : तुम्हारा सम्बन्ध पक्का हो गया है क्या ?

विपिन : हाँ हो गया है—तुम्हारी धेवती के साथ। मज़ाक छोड़ो, पूर्ण कल कुमार-सभा का सदस्य बन गया है।

श्रीश : पूर्ण ! क्या कह रहे हो ? तब तो पत्थर पानी पर तैरने लगा।

विपिन : अजी पत्थर अपने-आप नही तैरता, उसे और कोई चीज़ तैरा रही है।

श्रीश : क्यो जी विपिन, पूर्ण ख्वामख्वाह चिर-कुमार सभा का सदस्य क्यो हुआ। इसका तो कोई कारण ही नही मिल रहा है। इस सभा

मे तो कैशिकाकर्षण, माव्याकर्षण, चुम्ब काकर्षण आदि किसी भी आकर्षण की वला नही।

विपिन : कौन कहता है, नही है। परदे की ओट मे है।

श्रीश : ज़रा खुलासा वताओ। देखूँ, तुम्हारी वुद्धि की दौड कितनी है।

विपिन : जव से पूर्ण इस सभा का सदस्य हुआ है तभी से मैं देख रहा हूँ, उसकी आँखें हमेशा उस दरवाजे के परदे का भेद खोलने मे ही लगी रहती हैं। कारण खोजने पर देखा, परदे के नीचे की सध से दो चरण दिखाई पड़ते हैं। देखते ही समझ गया, जिसका मन उन चरणो की ओर विचरण कर रहा है वह कुमार-व्रत का पालन नही कर पायगा।

श्रीश : उन चरण-युगल का चरम-तत्त्व हाथ आया? वहुत वार ऐसा होता है कि थोड़ा-सा जानने पर जिसके लिए मन उतावला हो जाता है उसे पूरी तरह जानने पर मन ठडा हो जाता है। किसके चरण है वे, सुनूँ।

विपिन : तो फिर सुनो, पूरा इतिहास वताता हूँ। यह तो जानते ही हो कि पूर्ण शाम के समय चन्द्रवावू के पास पढ़ाई के नोट लेने आता है। उस दिन मैं और पूर्ण दोनो ज़रा सिदौसी चन्द्रवावू के घर आ गए थे। वे किसी मीटिंग से लौटे ही थे। वैयरा लालटेन जला गया था—पूर्ण किताव के पन्ने पलट रहा था, तभी—वस कुछ न पूछो भाई, यो समझो कि वकिमवावू के किसी अलिखित उपन्यास में से कोई कन्या प्रकट हुई। पीठ पर वेणी लहरा रही थी—

श्रीश : सच! सच कह रहे हो विपिन!

विपिन : अरे सुनो तो। एक हाथ मे थाली में चन्द्रवावू के लिए जल-पान और दूसरे हाथ मे पानी का गिलास लिये वह अचानक कमरे में आ पहुँची। हमे देखते ही चौक उठी फिर कुण्ठित हो गई। लज्जा से उसका मुँह लाल हो गया। हाथ जोड़ने या सिर ढँकने का कोई उपाय नही था। चटपट टेविल पर जल-पान रखकर भाग गई। पूर्ण का चेहरा देखते ही समझ मे आ गया कि उसका मन उस लहराती वेणी के ही पीछे-पीछे लगा चला गया। वैसे तो व्राह्म है पर दुनिया-भर के लोगो के सामने निकलने मे उसे अव भी लज्जा

लगती है। और सच कहता हूँ, उसने सौन्दर्य भी सुरक्षित रखा है।

श्रीश : सच कहते हो विपिन ! देखने में सुन्दर है शायद।

विपिन : गज़ब की। अचानक बिजली की तरह आकर पढ़ाई-लिखाई पर वज्रपात करके चली गई।

श्रीश : सच ! है कहाँ, मैं ने तो कभी नही देखी। कौन है वह ?

विपिन : अपने सभापति जी की भानजी। नाम है निर्मला।

श्रीश : भानजी ? मर गए। यही रहती है ?

विपिन : निस्सन्देह। सभापति जी खुद तो नीरोग है, पर रोग की छूत साथ लिये फिरते हैं।

श्रीश : लेकिन शायद अभी जमाई नाम की कोई बला नही है।

विपिन : वह बला अपरिणीत रूप से चिरकुमार सभा मे घुस पड़ी है। जब वह अपने पूर्ण-परिणत रूप में प्रकट होगी तो प्रजापति[1] कुमारसभा का कचूमर निकाल देंगे।

श्रीश : तो क्या वे कुमारी हैं ?

विपिन : और नही तो क्या ? कुमारी हैं, कुमार सभा की महामारी हैं। इसी घटना के बाद पूर्ण ने अचानक अपनी कुमार-सभा मे नाम लिखाया है।

श्रीश : पुजारी बनकर मूर्ति चुराने की मशा है ! लगता है, मुझे भी मामले की छानबीन करनी पडेगी।

विपिन . हो सकता है, नारी-तत्त्व की गवेषणा स्वास्थ्य के लिए हितकर न हो।

श्रीश : अगर तुम्हारे स्वास्थ्य पर कोई असर नही हुआ तो फिर मेरे—

विपिन : रोग जब शुरू-शुरू मे प्रवेश करता है तब पकड़ मे नही आता। लेकिन जब कुमार की मार भीतर से फूट निकलेगी तब अश्विनी-कुमार भी न बचा पायेंगे। शुरू मे ही सावधान हो जाना अच्छा है।

---

१. बँगला में 'प्रजापति' द्वयर्थक शब्द है : १. विवाह के देवता २. तितली। मूल वाक्य में जो श्लेष है वह अनुवाद में नहीं आ सका।

(एक प्रौढ व्यक्ति का प्रवेश)

विपिन : कहिए जनाव, आप कौन है ?

प्रौढ : जी, मेरा नाम है श्रीवनमाली भट्टाचार्य, ठाकुर का नाम—स्वर्गीय श्री रामकमल न्यायचुंचु, निवास--

श्रीश . वस, वस और ज्यादा जानने की हमे कोई इच्छा नही, इस समय किस काम से आये हैं।

वन० : काम तो कुछ नही है। आप सज्जन लोग है, आप लोगों के साथ मेल-मुलाकात—

श्रीश : आपको काम न सही, हमें तो है। अगर इस समय और किसी सज्जन से मेल-मुलाकात करने जायँ तो हम लोग ज़रा--

वन० : तो फिर काम की वात ही निपटा लूं।

श्रीश : यही ठीक है।

वन० : कुमारटोली के नीलमाधव चौधरीजी की दो अत्यन्त सुन्दरी कन्याएँ है—उनकी उम्र विवाह-योग्य हो गई है—

श्रीश : हो गई है तो हुआ करे, हमसे उसका क्या सम्बन्ध है ?

वन० : सम्बन्ध तो आप लोगो के जरा-सा ध्यान देते ही हो सकता है। मै सव ठीक कर दूंगा।

विपिन : आप वेकार अपनी कृपा अपात्रो पर खर्च कर रहे हैं।

वन० : अपात्र ! कमाल है ! भला आप-जैसे सत्पात्र और कहाँ मिलेंगे। आपके विनय-गुण से तो मैं और भी मुग्ध हो गया हूँ।

श्रीश : अगर यह मुग्ध-भाव वनाये रखना चाहते हो तो यहाँ से फौरन खिसक जाइए। विनय-गुण[1] ज्यादा खीच-तान नही झेल पाता।

वन० : वेटी वाला काफी रुपये देने को तैयार है।

श्रीश : शहर मे भिखारियो की तो कमी नही है। क्यो जी विपिन, तुम्हे शायद मज़ा आ रहा है। लेकिन मुझे इस तरह की वातचीत अच्छी नही लगती।

विपिन : पर जाऊँ कहाँ। भगवान् ने इसे भी तो एक जोड़ी लम्वे पैर दे रखे है।

---

१. गुण का एक अर्थ रस्सा भी है।

श्रीश : अगर हमारे पीछे पड़ेंगे तो भगवान् का यह दान मनुष्य के हाथो गँवाना पड़ेगा।

वन० : मैं खुद ही चला जाता हूँ।

(प्रस्थान)

(चन्द्रमाधव बाबू का प्रवेश)

चन्द्रबाबू : पूर्ण।

श्रीश : जी, मैं हूँ श्रीश !

चन्द्रबाबू : अपनी सभा की सदस्य-संख्या कम है, इस कारण किसी को हताश होने की ज़रूरत नही।

श्रीश : हताश ! यही तो अपनी सभा का गौरव है। इस सभा का महान् आदर्श और कठिन विधान क्या सर्वसाधारण के उपयुक्त है ? अपनी सभा अल्पजनो की सभा है।

चन्द्रबाबू : (कार्यवाही का रजिस्टर आँखों के पास ले जाते हुए) लेकिन हमारा आदर्श ऊँचा है और विधान कठिन, इसीलिए हमे विनम्र रहना चाहिए। हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि शायद हम अपना सकल्प पूरा करने के योग्य न भी हो पायँ। तुम्ही सोच देखो, हमारे बीच मे पहले ऐसे कई सभ्य थे जो शायद हर बात मे हमसे बडे थे, पर वे भी अपने सुख और संसार के प्रबल आकर्षण मे फँसकर एक-एक करके लक्ष्यभ्रष्ट हो गए। अब हम जो थोड़े-बहुत जने बचे है, हमारे रास्ते में भी कब कहाँ प्रलोभन आ पड़े, कहना कठिन है। इसीलिए हमें दम्भ त्याग देना चाहिए। न हमे किसी प्रकार की शपथ मे बँधना चाहिए। अपना तो यह मत है कि महान् कार्य की चेष्टा न करने की अपेक्षा चेष्टा करके असफल हो जाना ज्यादा अच्छा है।

(पास के कमरे के जरा से खुले दरवाजे के पीछे कोई श्रोत्री इस बात पर थोडी-सी विचलित हो उठती है। उसके आँचल में बँधे चाभियों के गुच्छे की दो-एक चाभियाँ हलकी-सी ठनठनाहट कर उठती ह। इस बात को पूर्ण के अलावा और कोई लक्ष्य नही कर पाता।)

चन्द्रबाबू : बहुतेरे लोग हमारी सभा का मज़ाक उड़ाते हैं। बहुतेरे कहते है, तुम लोगो ने देश-सेवा के लिए कौमार्य-व्रत ग्रहण किया है, लेकिन

अगर सभी इस महान् प्रतिज्ञा मे वँध जायँ तो आज से पचास साल वाद देश मे क्या ऐसा एक भी आदमी वच जायगा जिसके लिए देश-सेवा की ज़रूरत हो। मै अक्सर विनम्र भाव से निरुत्तर रहकर ये मज़ाक सह लेता हूँ, पर क्या इनका कोई उत्तर है ही नही ?

(अपने तीनों सभ्यों की ओर देखने लगते हैं।)

पूर्ण : (नेपथ्यवासिनी का ध्यान करके उत्साह से) है क्यो नही ? हरेक देश मे कुछ लोग ऐसे होते है जो गृहस्थ वनने के लिए नही जनमते। उनकी सख्या थोड़ी ही होती है। अपनी यह सभा उन्ही थोड़े-से जनो को आकर्षित करके एक उद्देश्य मे गूँथने के लिए है—ससार-भर के लोगो को कौमार्य-व्रत मे दीक्षित करने के लिए नही। हमारे इस जाल मे वहुत-से लोग फँसेगे जिनमे से अधिकाश छूटकर चले जायँगे। अन्त मे दीर्घ परीक्षा के वाद वस दो-चार जने वचे रहेगे। अगर कोई पूछे, क्या तुम्ही हो वे दो-चार जने ? तो ऐसा कौन है जो सिर उठाकर निश्चयपूर्वक कह सके, हाँ। अभी तो हम लोग वस जाल मे आकृष्ट हुए है। लेकिन अन्त तक परीक्षा में टिक सकें या न टिक सके, हम चाहे एक-एक कर फिसल जायँ या जमे रहें, इसे लेकर हमारी इस सभा का मज़ाक उडाने का अधिकार किसी को नही है। यदि एक अकेले हमारे सभापति महोदय ही रह जायँ तो भी हमारा यह परित्यक्त सभा-क्षेत्र उन एक तपस्वी के तप के प्रभाव से पवित्र और उज्ज्वल वना रहेगा और उनके जीवन-भर की तपस्या का फल देश के लिए कभी व्यर्थ नही जायगा।

(सभापति कुण्ठित होकर कार्यवाही के रजिस्टर को फिर से आंखों के अत्यन्त निकट ले जाकर अन्यमनस्क भाव से न जाने क्या देखने लगते हैं। लेकिन पूर्ण की यह वक्तृता यथास्थान पूरे वेग से जा पहुँचती है। चन्द्र-माधव वावू की एकान्त तपस्या की वात से निर्मला की आंखें डवडवा आती है और उस व्याकुल वालिका के चाभियों के गुच्छे की झनक सुनकर पूर्ण पुरस्कृत हो जाता है।)

विपिन : हम लोग इस सभा के योग्य है कि नही, यह तो भविष्य ही वतायगा। लेकिन यदि हमारा उद्देश्य कोई काम करना भी हो तो उसे कभी-न-कभी शुरू कर देना उचित है। मैं पूछता हूँ : हमारा काम

क्या है ?

चन्द्रबाबू : (उत्साहित होकर) हम लोग इतने दिनो से इसी प्रश्न की प्रतीक्षा कर रहे थे। हमारा काम क्या है ?—यही प्रश्न मानो हममे से प्रत्येक को अपने दंशन से अधीर करता रहे। भाइयो, काम ही एकता का एक-मात्र सूत्र है। जो लोग एक साथ काम करते है वे ही एक होते है। जब तक हम सब मिलकर इस सभा मे किसी एक काम मे नही जुट जायँगे तब तक हम लोग वास्तव मे एक नही हो सकते। अतएव विपिनबाबू ने आज जो यह प्रश्न किया है, हमारा क्या काम है, इस प्रश्न को बुझने नहीं देना चाहिए। सदस्य महोदय, आप लोग उत्तर दे, हमारा काम क्या है।

श्रीश : (अस्थिर होकर) अगर मुझसे पूछें कि हमारा काम क्या है, तो मै तो कहता हूँ हम सबको सन्यासी बनकर भारतवर्ष के प्रात-प्रात मे गाँव-गाँव में देश-हित का व्रत लिये घूमना होगा, अपने दल को मजबूत करना होगा, अपनी सभा को सूक्ष्म सूत्र का रूप देकर उससे सारे भारतवर्ष को गूँथ डालना होगा।

विपिन : (हँसकर) यह तो लम्बी बात है। कोई ऐसा काम बताओ जो कल ही शुरू किया जा सके। 'मारेंगे तो गैड़ा लूटेगे तो भण्डार' अगर ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठोगे तो गैडा भी बच जायगा, भण्डार भी बच जायगा, और तुम जैसे हो वैसे ही मजे मे रहे आओगे। मेरा प्रस्ताव है, हममे से हरेक सदस्य दो-दो विदेशी छात्रो का पालन करे, उनकी पढाई-लिखाई और उनके शारीरिक-मानसिक विकास का सारा भार हमारे ऊपर रहे।

श्रीश : बस यही है तुम्हारा काम ! क्या इसीके लिए हमने सन्यास ग्रहण किया है ? अगर अन्त मे बच्चे ही पालने है तो फिर अपने बच्चो ने क्या बिगाड़ा है ?

विपिन : (विरक्त होकर) अगर यही बात है तो फिर सन्यासी का तो कोई काम ही नही होता। उसका तो काम है बस भीख माँगना, घूमते रहना और भँड़ेती करना।

श्रीश : (भड़ककर) मै देखता हूँ, हम मे से कोई-कोई ऐसे है जिनकी इस सभा के महान् उद्देश्यो के प्रति तनिक भी श्रद्धा नही है। वे लोग

इस सभा को छोड़कर जितनी जल्दी संतान-पालन में प्रवृत्त हो जायँ उतना ही अपना कल्याण हो।

विपिन . (लाल पड़कर) मैं अपने बारे मे कुछ नही कहना चाहता, लेकिन इस सभा मे कोई-कोई ऐसे हैं जो सन्यास की कठोरता और सन्तान-पालन के त्याग दोनो के ही अयोग्य हैं। उनकी—

चन्द्रबाबू : (आंखों पर से कार्यवाही का रजिस्टर हटाकर) जो प्रस्ताव किया गया है उसके बारे मे यदि पूर्णबाबू का आशय मालूम पड़ जाय तो मुझे अपना मन्तव्य प्रकट करने का अवसर मिले।

पूर्ण : आज विशेष रूप से सभा की एकता के लिए कोई काम हाथ मे लेने का प्रस्ताव किया गया है। लेकिन काम के प्रस्ताव-मात्र से ही एकता का जो लक्षण परिस्फुट हुआ है उसे आँख में उँगली डालकर दिखाने की जरूरत नही है। इसी बीच यदि मैं तीसरा मत प्रकट कर बैठूं तो विरोध की आग मे तीसरी आहुति पड़ जायगी —अतएव मेरा प्रस्ताव है कि सभापति महोदय हमे काम का निर्देश कर दे ताकि हम उसे शिरोधार्य करके बिना किसी सोच-विचार के पालन करते रहे। कार्य और एकता दोनो को साधने का यही एक-मात्र उपाय है।

(पास के कमरे में फिर कोई व्यक्ति हिलने-डुलने लगता है और उसकी चाभी झन्न-से बज उठती है।)

चन्द्र बाबू : हम लोगो का प्रथम कर्तव्य है भारतवर्ष की दरिद्रता दूर करना, और उसका तात्कालिक उपाय है वाणिज्य। हम थोड़े-से जने कोई बड़ा व्यापार तो नही चला सकते, पर उसका सूत्रपात कर सकते है। मान लीजिए, हम लोग दियासलाई के बारे में परीक्षण आरंभ करे। अगर हम कोई ऐसी सीक ढूंढ निकाले जो चट-से जल सकती हो, जल्दी न बुझती हो और देश-भर मे प्रचुर मात्रा मे पाई जाती हो तो फिर अपने यहाँ दियासलाई बनाने के काम मे कोई बाधा नही होगी। इसके लिए मेरी राय में दियासलाई तैयार करने की प्रणाली जान लेना ही काफी नही है। अपने यहाँ जितने प्रकार की सीके मिलती है उनमे से कौन-सी सीक सबसे अधिक ज्वलनशील है इसकी खोज करनी होगी।

विपिन : मुझे लगता है, दाहन-तत्त्व के सम्बन्ध मे पूर्णबाबू को थोड़ी-बहुत जानकारी है।

चन्द्रबाबू : यह बात है ? क्यो पूर्ण, तुमने दाह्य-पदार्थ की परीक्षा की है क्या ?

पूर्ण : मेरा खयाल है, बुहारी की सीक सस्ती भा होती है और—

विपिन : हाँ, और आसानी से आग भी पकड़ लेती है, लेकिन कुमार सभा मे उसका परीक्षण आसान नही है।

चन्द्रबाबू : क्या कह रहे है विपिन बाबू, मैं सुन नही पाया।

विपिन : मैं कह रहा था, हमारे देश मे दाह्य पदार्थ तो यथेष्ट है, और दाहक पदार्थो का भी अभाव नही है; लेकिन परीक्षा खूब सोच-विचार-कर करनी चाहिए।

चन्द्र बाबू : आपने ठीक कहा। बहुत-सी सीके ऐसी होती है जो जितनी जल्दी जल उठती हैं उतनी ही जल्दी बुझकर राख हो जाती है।

विपिन : इसमे क्या शक है।

चन्द्र बाबू : जल्दी जल उठे, धीरे-धीरे जलती रहे, काफी देर तक, आखिर तक जलती रहे, ऐसी चीज़ चाहिए। क्या ऐसी चीज मिल सकती है ?

श्रीश : ज़रूर मिल सकती है। हो सकता है हाथ के पास ही हो।

पूर्ण : सन के डण्ठल और बुहारी की सीकों के सहारे मैं शीघ्र ही परी-क्षण करके देखूंगा।

(श्रीश मुँह फेरकर हँसता है)

(अक्षय का प्रवेश)

अक्षय : अन्दर आ सकता हूँ श्रीमान् ?

(क्षीणदृष्टि चन्द्रमाधव बाबू उन्हे अचानक पहचान न पाने के कारण भौंहे चढाये मुँह फाडकर उनकी ओर देखते रह जाते है।)

अक्षय : डरिये मत श्रीमान्, और इस तरह भौहे टेढी करके मुझे डराएँ भी नही। मैं कोई अभूतपूर्व व्यक्ति नही हूँ—बल्कि मैं तो आप ही लोगो का भूतपूर्व हूँ—मेरा नाम है—

चन्द्र बाबू : बस-बस-बस, नाम बताने की जरूरत नहीं। आइए, आइए, अक्षय-बाबू—

(तीनों तरुण सदस्य अक्षय को नमस्कार करते हैं। विपिन और श्रीश दोनों मित्र चालू विवाद की विमर्दना के कारण गम्भीर होकर बैठे रहते हैं।)

पूर्ण : श्रीमान्, अभूतपूर्व की अपेक्षा भूतपूर्व से ही ज्यादा डर लगता है।

अक्षय : पूर्णबाबू ने सचमुच बुद्धिमानों की-सी बात कही है। संसार में भूत का ही भय प्रचलित है। जो व्यक्ति खुद भूत बन चुका है उसे दूसरों का जीवन-सम्भोग वांछनीय लग ही नहीं सकता। यही सोचकर मनुष्य ने भूत की कल्पना भयंकर रूप में की है। अतएव सभापति महोदय, चिरकुमार सभा के इस भूत को सभा से झड़वायेंगे या पूर्व सम्पर्क की ममता के वशीभूत होकर आसन देंगे, फौरन बताइए।

चन्द्रबाबू : आसन देना ही तय हुआ।

(एक कुर्सी आगे कर देते हैं।)

अक्षय : तो फिर सर्वसम्मति से आसन ग्रहण करता हूँ। आपने अत्यन्त भद्रतापूर्वक मुझे बैठने के लिए कहा है, यही सोचकर मैं अभद्रता-पूर्वक बैठा ही रहूँगा, आप मुझे इतना असभ्य न समझें। खास तौर से इसलिए कि पान, तमाखू और पत्नी आपकी सभा में वर्जित है, और इन तीनों की बुरी लत ने मेरा ढेर कर दिया है। इसलिए चटपट काम की बात पूरी करके घर की ओर चल दूंगा।

चन्द्रबाबू : (हँसकर) जब आप सदस्य है ही नहीं तो फिर आप पर सभा का नियम क्यों लागू किया जाय—पान-तमाखू का बन्दोबस्त तो शायद हो जाय लेकिन आपका तीसरा नशा—

अक्षय : उसे यहाँ उठाकर लाने की चेष्टा न करें, मेरा वह नशा उजागर नहीं है।

(चन्द्रबाबू पान-तमाखू के लिए नौकर सनातन को आवाज देना चाहते हैं। पूर्ण 'बुलाए देता हूँ' कहकर उठता है; पास के कमरे से चाभी, चूड़ी और सहसा भागने की आवाजें एक साथ सुनाई पड़ती हैं।)

अक्षय : यस्मिन् देशे यदाचारः। जितनी देर मैं यहाँ हूँ उतनी देर मैं आपका

चिरकुमार हूँ—कोई अन्तर नही। अव मेरा प्रस्ताव सुनिए।

(चन्द्रवावू टेविल पर रखे कार्यवाही के रजिस्टर पर झुकते हुए ध्यान से सुनने लगते है।)

अक्षय : मुफस्सिल मे रहने वाले मेरे एक धनी मित्र अपनी एक सन्तान को आपकी कुमार सभा का सभ्य वनाना चाहते है।

चन्द्रवावू : (आश्चर्य से) वाप वेटे का व्याह नही करना चाहता।

अक्षय : इस वारे मे आप निश्चिन्त रहे—व्याह वे किसी हालत मे न करेगे, इसकी मै जमानत देता हूँ। दूर के नाते मे उनके एक वावा भी सभ्य वनेगे। उनके वारे मे भी आप लोग निश्चिन्त रह सकते हैं, क्योकि यद्यपि वे आप लोगो की भाँति सुकुमार नही है, फिर भी वे आप सवसे अधिक कुमार है। उनकी उम्र साठ पार कर चुकी है—इसलिए सन्देह की उम्र वीत चुकी है। सौभाग्य से अभी आपकी सन्देह की उम्र वनी हुई है।

चन्द्रवावू : सदस्य पद के लिए प्रार्थी लोगो के नाम, धाम, विवरण—

अक्षय : निस्सन्देह उनका नाम, धाम, विवरण है—सभा को उससे वचित नही किया जा सकता—जब आपको सदस्य मिलेगे तो नाम, धाम, विवरण समेत ही मिलेगे। लेकिन आप लोगो का यह एकतल्ले का सीलन-भरा कमरा स्वास्थ्य के लिए अनुकूल नही है, कही आपके इन चिरकुमारों का चिरत्व न मिट जाय इस ओर भी जरा नज़र रखे।

चन्द्रवावू . (किंचित् लज्जित होकर रजिस्टर नाक के पास लाते हुए) अक्षयवावू, आप तो जानते ही है हम लोगो की आय—

अक्षय : आय की वात वताने की जरूरत नही है। मैं जानता हूँ, उसकी चर्चा मन को प्रसन्न नही करती। एक वढ़िया कमरे का वन्दोवस्त कर दिया गया है, उसके लिए आपको अपने कोषाध्यक्ष को याद करने की ज़रूरत नहीं। चलिए न, आज ही सव-कुछ देख-भाल लीजिए।

(विषण्ण विपिन और श्रीश के मुख उज्ज्वल हो उठते है। सभापति भी प्रफुल्लित होकर वालों में उँगलियाँ फेरते-फेरते वालों को विखेर डालते है। वस, केवल पूर्ण निढाल हो जाता है।)

पार उपवन में लोग हिल-मिलकर आनन्द मना रहे हैं। अभी समय है, बोलो कौन चलेगा। व्यर्थ के सोच-विचार में समय क्यों नष्ट करते हो। थोड़ी देर बाद ही सूरज डूब जायगा, हवा थम जायगी, और साँझ होते ही खेप बन्द हो जायगी।

श्रीश : ऐसा लगता है मानो कुमार-सभा को डराने का गीत हो। खेप बद हो गई तब तो मुश्किल होगी।

विपिन · सुना नही। कहा था न—"इस पार तो सूखा मरुस्थल धू-धू कर रहा है।"

पूर्ण : तो फिर अब देर क्यो। पार चलने का बन्दोवस्त करो !

श्रीश : आवाज सुनकर तो ऐसा लगता है कि पार नही ले जायगी, अतल मे डुबो देगी।

(सबका प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

श्रीश का घर

(श्रीश अपने घर के दक्षिणी बरामदे में एक बडे हत्थे वाली आराम-कुर्सी के दोनों हाथों पर पैर रखे शुक्ल-पक्ष की सन्ध्या में चुपचाप बैठा सिगरेट फूंक रहा है। पास की तिपाई पर एक रकाबी में एक गिलास में लैमनेड और बर्फ ह, और कुन्दफूलों की माला का एक ढेर।)

विपिन : कहिए जी सन्यासी महाराज !

श्रीश : (उठकर बैठते हुए जोर से हँसते हुए) शायद अभी तक झगड़ा नही भूल पाय। अच्छा भाई शिशुपालक, तुम क्या सचमुच यह सोचते हो कि मैं सन्यासी नही बन सकता ?

विपिन क्यो नही बन सकते। लेकिन साथ मे बहुत-से तावेदार चेले होने चाहिएँ।

श्रीश : इसका मतलब यही है न कि कोई फूलो की माला गूँथ दे, कोई बाजार से लैमनेड और बर्फ माँग लाए। तो इसमे हानि ही क्या

है ? जिस संन्यास मे वेल-फूलो के प्रति वैराग्य हो और लैमनेड के प्रति विरक्ति, वह क्या वहुत ऊँची कोटि का होता है ?

विपिन : साधारण वोल-चाल मे तो सन्याम-धर्म का यही अर्थ लिया जाता है।

श्रीश : यह लो, क्या तुम्हारा खयाल है, भापा मे किसी शव्द का एक के सिवाय दूसरा अर्थ ही नही होता ? अगर एक व्यक्ति के लिए सन्यासी शव्द का जो अर्थ है वही दूसरे व्यवित के लिए भी हो तो फिर मन नाम की यह स्वाधीन वस्तु है किसलिए !

विपिन . तुम्हारे मन-महाराज सन्यासी शव्द का क्या अर्थ लगाते है मेरे मन-महाराज यह जानने के लिए उत्सुक है।

श्रीश . मेरे हिसाव से सन्यासी का रूप इस प्रकार है—गले मे फूलो की माला ; तन पर चन्दन ; कानो मे कुण्डल ; होठो पर मुस्कराहट। उसका काम है लोगो का मन आकर्पित करना। सुन्दर चेहरा, मीठा गला, भापण मे दक्षता—ये वाते न हो तो सन्यासी को सही-सही फल नही मिलता। रुचि, वुद्धि, कार्य-कुशलता, प्रफुल्लता—सभी वातो मे मेरा सन्यासी-सम्प्रदाय गृहस्थो का आदर्श वनेगा।

विपिन : अर्थात् कार्त्तिकेयों की एक टोली मोरो पर सवार होकर निकल पड़ेगी।

श्रीश : मोर न मिले तो ट्राम है, पैदल चलने मे भी मुझे आपत्ति नही। कुमार-सभा के तो अर्थ ही है कार्त्तिकेयो की सभा। लेकिन कार्त्ति-केय क्या सिर्फ सुन्दर ही थे, वे स्वर्ग के सेनापति भी तो थे।

विपिन : लड़ने के लिए उनके पास सिर्फ दो हाथ थे, लेकिन भापण देने के लिए उनके तीन जोड़ी मुँह थे।

श्रीश . इससे सिद्ध होता है कि हमारे पूर्वज आर्यजन वाहु-वल की अपेक्षा वाक्य-वल को तीन गुना वडा मानते थे। मैं भी पहलवानी को वीरता का आदर्श नही समझता।

विपिन : यह व्यग्य शायद मुझ पर कसा गया है ?

श्रीश : यह देखो, अहकार मनुष्य को कितना निकम्मा कर देता है। तुमने तय कर रखा है कि पहलवान की चर्चा के मतलव हैं तुम्हारी चर्चा। तुम कलियुग के भीमसेन हो न ! अच्छी वात है आओ, युद्ध देहि।

ज़रा वीरता की परीक्षा हो जाय।

(यह कहकर दोनों मित्र दिखाने के लिए थोड़ी देर तक हाथापाई करते है। विपिन अचानक 'अबकी भीमसेन का पतन' कहकर धम्-से श्रीश की आरामकुर्सी पर अधिकार जमाकर उस पर अपने दोनों पैर फैला देता है, और 'उफ़, बड़ी प्यास लगी है' कहकर लैमनेड के गिलास को एक ही सास में खाली कर डालता है। तब श्रीश जल्दी से कुन्दफूलों की माला उठाकर—'लेकिन जयमाला मेरी है' कहकर उसे सिर से लपेट लेता है और बेंत के मूढ़े पर बैठ जाता है।)

श्रीश : अच्छा भाई, सच-सच बताना, अगर पढे-लिखे लोगो की एक टोली इस तरह संसार त्यागकर सज-धजकर प्रफुल्ल मुख से गाती और भाषण करती हुई भारतवर्ष मे चारों ओर शिक्षा का प्रसार करती घूमे तो उससे उपकार होगा या नही ?

विपिन : आइडिया तो जरूर अच्छा है।

श्रीश : अर्थात् सुनने मे सुन्दर है, लेकिन करने मे असाध्य। पर मैं कहता हूँ, असाध्य नही है। मैं दृष्टान्त देकर इसे सिद्ध करता हूँ। भारतवर्ष मे सन्यास धर्म एक बड़ी भारी शक्ति है। उसकी राख झाड़कर, उसकी झोली छुड़ाकर, उसकी जटा मुडाकर उसे सौन्दर्य और कर्मनिष्ठा मे प्रतिष्ठित करना ही चिरकुमार सभा का एक-मात्र उद्देश्य है। बच्चे पढ़ाने या दियासलाई की सीकें तैयार करने के लिए हम-जैसे लोगो ने जीवन-भर का यह व्रत ग्रहण नही किया है। बोलो विपिन, तुम मेरे प्रस्ताव से सहमत हो या नही ?

विपिन : तुम्हारे सन्यासी को जैसे चेहरे, गले और सरंजाम की ज़रूरत है वह तो मेरे पास है नही। फिर भी तावेदार बनकर पीछे-पीछे चलने को तैयार हूँ। अगर कानो मे सोने के कुण्डल या कम-से-कम आँखो पर सोने का चश्मा चढाकर इधर-उधर घूमते फिरना हो तो तुम्हे एक पहरेदार की ज़रूरत है, वह काम मैं थोड़ा-बहुत कर सकता हूँ।

श्रीश : फिर मज़ाक।

विपिन : नही भाई, मज़ाक नही है। मैं तुमसे सच कहता हूँ, अगर तुम अपने प्रस्ताव को सम्भव बना सको तो बहुत ही अच्छा हो। लेकिन ऐसे किसी भी सम्प्रदाय मे सबका काम एक-सा नही हो सकता, जिसकी

जैसी क्षमता होगी, वैसी ही सहायता करेगा।

श्रीश : हाँ, यह तो ठीक है। बस एक बारे मे हमे खूब दृढ़ बनना पडेगा। स्त्री जाति से हम कोई सरोकार नही रखेगे।

विपिन : जब माला, चन्दन, कुण्डल—सभी को ग्रहण करना चाहते हो तो फिर इस एक विषय मे ही इतनी दृढता क्यो ?

श्रीश : इन चीजो को ग्रहण करना चाहता हूँ इसीलिए दृढता है। इसीलिए तो चैतन्य ने अपने अनुचरो को स्त्रियों से दूर बडे कडे नियन्त्रण में रखा था। उनका धर्म अनुराग और सौन्दर्य का धर्म था, इसलिए उनके लिए प्रलोभन के ढेरो जाल थे।

विपिन : तो फिर खतरा भी है ही।

श्रीश मुझे अपने लिए तो जरा भी नही। मैने तो अपना मन पृथ्वी के रग-बिरगे सौन्दर्य मे व्याप्त कर दिया है। किसकी हिम्मत है जो मुझे अपने जाल मे फाँसे। लेकिन तुम लोग जो दिन-रात फुटबॉल, टैनिस, क्रिकेट मे पिले रहते हो—तुम अगर एक बार फिसले तो बैट-बाल, गुल्ली-डडा समेत चारो खाने चित्त हो जाओगे।

विपिन अच्छी बात है। समय आने पर देखा जायगा।

श्रीश · यह बात सही नही है। समय कभी नही आयगा, मै उसे आने ही नही दूँगा। समय रथ पर चढकर तो आता नही—हम खुद ही उसे कन्धो पर चढाकर ले आते है—लेकिन तुम जिस समय की बात कह रहे हो उसे सवारी के अभाव मे लौट ही जाना होगा।

(पूर्णबाबू का प्रवेश)

दोनो : आओ पूर्णबाबू !

(विपिन उसके लिए आरामकुर्सी छोडकर एक कुर्सी घसीटकर बैठ जाता है।)

पूर्ण : तुमने अपने इस बरामदे मे चाँदनी तो अच्छी रची है—बीच-बीच मे खम्भो की छाया डालकर खूब सजाया है।

श्रीश : छत पर चाँदनी रचना आदि कुछ बातो की तो मुझमें गजब की क्षमता है, जन्म के पहले से ही, लेकिन देखो पूर्णबाबू, यह दिया-सलाई-फियासलाई बनाना मुझे ठीक से नही आता।

पूर्ण : (फूलों की माला की ओर देखते हुए) सन्यास-धर्म मे ही ऐसा तुम्हारा

कौन-सा असाधारण अधिकार है ?

श्रीश : यही तो चर्चा हो रही थी। तुम्हारी राय मे संन्यास-धर्म क्या है, जरा सुनूँ।

पूर्ण : जिस धर्म में दर्जी, धोबी, नाई किसी की सहायता न लेनी पड़े, जिसमे जुलाहे को एकदम अस्वीकार करना पड़े, जिसमें पियर्स सोप के विज्ञापन पर नजर न डालनी पड़े—

श्रीश : अरे धत्, वह संन्यास-धर्म तो बूढा होकर मर चुका, अब नवीन सन्यासियों का एक नया सम्प्रदाय बनाना होगा—

पूर्ण . विद्यासुन्दर[1] की यात्रा[2] मे जिन नवीन सन्यासी का वर्णन है उनका उदाहरण बुरा नही है—लेकिन वे चिरकुमार सभा के विधान के अनुसार तो चलते नही थे।

श्रीश · अगर चलते तो फिर उन्हीका उदाहरण ठीक होता।

पूर्ण : बस सिर्फ राजकुमारी पर से नजर हटानी होगी, यही न ? धागे के बिना ही माला गूँथनी होगी, लेकिन वह माला डाली किसके गले में जायगी, क्यो ?

श्रीश · अपने देश के गले मे। बात कुछ ऊँचे ढंग की लगती हैं। कहूँ भी क्या बताओ, मालिनी मौसी और राजकुमारी[3] दोनो एकदम निषिद्ध हैं। लेकिन मजाक नही पूर्णबाबू—

पूर्ण . तुम्हारी बात सुनने मे मजाक तो जरा भी नही लगती—बड़ी कडी बात लग रही है, एकदम सूखी खखड।

श्रीश : हमे अपनी चिरकुमार सभा मे एक ऐसा सन्यासी-सम्प्रदाय सगठित करना होगा जो रुचि, शिक्षा और कर्म—सभी मे गृहस्थो का आदर्श हो सके। जो सगीत आदि कला-विद्या मे अद्वितीय हो, और साथ ही लाठी, तलवार चलाने मे, बन्दूक से निशाना लगाने मे पारगत हो—

पूर्ण : अर्थात् मन हरने और प्राण हरने—दोनो ही कामो मे पक्का हो।

---

१. बगाल में प्रचलित एक लोक-प्रसिद्ध आख्यान का नायक।

२. नौटंकी की तरह का एक अभिनय-प्रकार जो बगाल में लोकप्रिय है।

३ 'विद्यासुंदर' की पात्रियाँ।

यों समझिए कि देवी चौधुरानी[1] जैसे युवको की एक टोली।

श्रीश : बंकिम बाबू ने मेरा आइडिया पहले ही चुरा लिया है—फिर व्यवहार मे ढालकर हम उसे अपना बना लेंगे।

पूर्ण : सभापति जी क्या कहते है ?

श्रीश : उन्हें कई दिन तक समझा-बुझाकर हमने अपने दल मे शामिल लिया है। लेकिन उन्होने अपनी दियासलाई की सीक नही छ है। कहते हैं, सन्यासी कृषि-तत्व और वस्तु-तत्व सीखकर ग गाँव में किसानो को सिखाते घूमेंगे—एक-एक रुपये के शेयर एक बैंक खोलकर बड़े-बड़े गाँवो मे नये नियमो के अनुसार ए एक दूकान खोल आयेंगे—भारतवर्ष मे चारो ओर व्यापार जाल फैला देगे। उन पर तो खूब नशा चढ गया है।

पूर्ण : विपिन बाबू का क्या मत है ?

विपिन : यद्यपि मैं अपने-आपको श्रीश के नवीन सन्यासी-सम्प्रदाय आदर्श नहीं समझता, लेकिन यदि ऐसा कोई दल तैयार हो तो भी संन्यासी का वेश धारण करने के लिए राजी हूँ।

पूर्ण : लेकिन वेश धारण करने मे खर्च लगेगा जनाब—सिर्फ कोपीन बात नही है। अगद, कुण्डल, आभूषण, कुन्तलीन, दिलखुश—[2]

श्रीश : पूर्णबाबू, चाहे जितना मजाक उड़ाओ, चिरकुमार सभा सन्यासि की सभा बनकर रहेगी। जहाँ एक ओर हम कठोर आत्म-त्य करेंगे वहीं दूसरी ओर मानवता के किसी भी उपकरण से अ को वचित नही करेंगे—हम कठिन शौर्य और ललित सौन्दर्य- दोनों को ही समान रूप से वरेंगे—इसी दुरूह साधना से भार वर्ष मे नव-युग का आविर्भाव होगा।

पूर्ण : समझ गया श्रीश बाबू—लेकिन क्या मानवता के प्रधान उपकर में नारी की गिनती नही है। और फिर उसकी उपेक्षा करने ललित सौन्दर्य के प्रति आदर की रक्षा कैसे होगी ? इसका क उपाय सोचा है ?

श्रीश : नारी मे एक दोष है—नर जाति को वे लता की तरह घेर लेती

---

१. बंकिमबाबू के विख्यात उपन्यास की नायिका।

२. प्रसिद्ध सुगन्धित तेल और इत्र के नाम।

यदि उनसे घिरने की आशंका न होती, यदि उनकी रक्षा करके भी स्वाधीनता की रक्षा हो सकती, तो फिर कोई बात न थी। जब कर्म मे ही जीवन का उत्सर्ग करना है तो फिर कर्म की सारी बाधाएँ दूर करनी चाहिएँ—पाणिग्रहण कर लेने पर अपना पाणि भी तो बँध जाता है। ऐसे काम नही चलेगा पूर्णबाबू।

पूर्ण : घबराओ मत भाई, मैं तुम्हे अपने शुभ-विवाह का निमंत्रण देने नही आया हूँ। लेकिन सोचो तो सही, फिर कभी मनुष्य-जन्म मिलेगा कि नही, इसमें संदेह है। तिस पर हम अपने हृदय को सर्वदा के लिए जिस तृष्णा-जल से वंचित करने चले हैं उसके बदले न जाने कभी कुछ भी मिलेगा या नही। मुसलमानो के स्वर्ग मे तो हूरें हैं, हिन्दुओ के स्वर्ग मे भी अप्सराओ की कमी नहीं है, पर चिरकुमार सभा के स्वर्ग मे क्या सभापति और सदस्य महोदयो से अधिक मनोरम कुछ भी मिल सकेगा ?

श्रीश . कैसी बात करते हो पूर्ण बाबू ? तुम तो—

पूर्ण . कोई डर नही भाई, अभी खत्म नही हो गया हूँ। छत पर बिखरी यह चाँदनी और फूलो की यह गन्ध—इनकी सृष्टि क्या कौमार्य व्रत की रक्षा में सहायता करने के लिए हुई है ? मन मे जो वाष्प जमा हो जाती है उसे बीच-बीच मे बाहर निकाल डालना ही मैं अच्छा समझता हूँ—उसे भीतर-ही-भीतर दबाकर अपने-आपको बहकाता रहूँ तो किसी दिन चिरकुमार व्रत के फौलादी बॉयलर के फट जाने का डर है। जो हो, अगर सन्यासी बनना ही तय हो तो मैं भी योग दूंगा—पर अभी तो पहले सभा को बचाना है।

श्रीश : क्यों, क्या हुआ ?

पूर्ण : अक्षयबाबू अपनी सभा के स्थानान्तरण की जो व्यवस्था कर रहे हैं, वह मुझे ठीक नही जँचती।

श्रीश : सदेह नाम की वस्तु नास्तिकता की छाया है। बिगड़ जायगी, टूट जायगी, नष्ट हो जायगी, ऐसे भावो को मैं अपने मन मे कभी आने ही नही देता। शुभ होगा—जो हो रहा है, अच्छा ही हो रहा है —मैं अपनी आँखो के सामने चिरकुमार सभा का उदार विस्तृत भविष्य देख रहा हूँ। सभा को एक घर से दूसरे घर मे ले जाकर

अक्षयबाबू उसका क्या अनिष्ट कर लेगे ? गली के अन्दर एक नम्बर से दूसरे नम्बर तक ही नही, हम लोगो को तो डगर-डगर मे देश-देश मे संचरण करते घूमना होगा। सदेह, शका, चिन्ता—इन्हे मन से निकाल दो पूर्ण बाबू—विश्वास और आनन्द के बिना बडे काम नही होते।

विपिन · दो-चार दिन देख ही क्यो न ले—अगर कोई असुविधा हो तो फिर अपने स्थान पर लौट आयँगे—अपनी उस अँधेरी कोठरी को कोई चट-से हथिया थोड़े लेगा।

(अचानक चन्द्रबाबू का तेजी से प्रवेश। तीनों जने आदर से खडे हो जाते है।)

चन्द्रबाबू : देखो, मैं सोच रहा था कि—

श्रीश : बैठिए।

चन्द्रबाबू · नही-नही, बैठूंगा नही, मै फौरन जा रहा हूँ। मै कह रहा था, सन्यास-व्रत के लिए हमे अभी से तैयार रहना होगा। अचानक कोई दुर्घटना हो जाय या मामूली-सी जूड़ी आ जाय तो क्या इलाज करना चाहिए हमे इसकी शिक्षा लेनी होगी। मै बन्दोबस्त कर आया हूँ कि हर रविवार को डॉक्टर रामरतन बाबू हमे दो घटे लैक्चर दिया करेंगे।

श्रीश . लेकिन इसमे तो बडा समय लगेगा।

चन्द्रबाबू : समय तो लगेगा ही, काम आसान थोडे ही है। और यही नही—हमे थोड़ा-बहुत कानून पढ़ना भी ज़रूरी है। अन्याय, अत्याचार से रक्षा करना और किसका क्या अधिकार है यह किसान-मज़दूरो को समझाना हम लोगो का काम है।

श्रीश . बैठिये चन्द्रबाबू—

चन्द्रबाबू . नही श्रीशबाबू, बैठ नही सकता, मुझे कुछ काम है। एक काम हमे और करना होगा—बैलगाडी, ढेकी, करघा इत्यादि जो हमारे जरूरी देशी यन्त्र है उनमे थोडा-बहुत सुधार करके उन्हे किस तरह अधिक सस्ता या अधिक महत्त्वपूर्ण या अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है, इसकी कोशिश करनी होगी। इस बार गर्मियो की छुट्टी मे केदारबाबू के कारखाने मे जाकर हमे कुछ रोज परीक्षण करना

चाहिए।

श्रीश : बहुत देर से खड़े है चन्द्र बाबू—

चन्द्र बाबू : नही-नही, मैं अभी जा रहा हूँ। देखो, मेरा मत यह है कि अगर हम इन ग्रामोपयोगी सामान्य चीजों की कुछ उन्नति कर सकें तो इनसे किसानो के मन मे जो हलचल मचेगी वह बड़े-बड़े सुधार-कार्यों से भी नही हो सकती। उनकी इन सदियो पुरानी ढेंकी-घानी मे परिवर्तन होते ही उनका सारा मन जागृत हो उठेगा। दुनिया जहाँ-की-तहाँ नही खड़ी है, यह बात उनकी समझ मे आ जायगी।

श्रीश . चन्द्रबाबू बैठेंगे नही क्या ?

चन्द्रबाबू · रहने दो। जरा सोचो तो सही, इतने दिनों से जो शिक्षा हम पा रहे हैं, उसका परिचय अगर ढेंकी-सूप से शुरू होता तो कितना अच्छा होता। बड़े-बड़े कल-कारखाने तो अलग, हमारी नजर तो अपने घर की चीजो पर भी नही पड़ती। अपने चारो ओर जो चीजे बिखरी हुई है, उन तक को हमने न तो ठीक से देखा, न उनके बारे मे कुछ विचार ही किया। जो जैसा था वैसा ही रहा आया। मानव तो प्रगति करे पर उसकी चीजें पिछडी रहे, भला ऐसा हो सकता हे। सच पूछो तो हम लोग अभी तक पिछड़े हुए है—अग्रेज हमे अपने कन्धो पर लादकर लिये जा रहे हैं, इसे प्रगति नही कह सकते। अपनी यह छोटी-सी मामूली देहाती जीवन-यात्रा भी कच्ची सडक की कीचड मे फँसकर अवरुद्ध हो गई है, अपने सन्यासी-समुदाय को इसी बैलगाड़ी का पहिया ठेलना है—यन्त्र-गाडी के चालक बनने की दुराशा अभी रहने दो—कै बजे हैं श्रीशबाबू !

श्रीश . साढे आठ बज चुके है।

चन्द्रबाबू : तो फिर मैं चलूँ। लेकिन यह तय हुआ कि हमे अभी और सब चर्चा छोडकर नियमित रूप से शिक्षा के काम मे लगना होगा, और—

पूर्ण . आप अगर ज़रा बैठते चन्द्रबाबू तो मुझे दो-एक बातें कहनी थी—

चन्द्रबाबू : नही, अब आज समय नही है—

पूर्ण : ऐसी कोई लम्बी बात नहीं है, मैं कह रहा था कि अपनी सभा—

चन्द्रबाबू : ये बातें कल होगी पूर्णबाबू !

पूर्ण : लेकिन कल तो सभा की बैठक है।

चन्द्रबाबू : अच्छी बात है, तो फिर परसो। आज मेरे पास समय नही है—

पूर्ण : देखिये, अक्षयबाबू ने जो—

चन्द्रबाबू : पूर्णबाबू, मुझे माफ करें, आज देर हो गई है। लेकिन, देखो मेरे मन मे एक बात उठ रही थी कि चिरकुमार सभा अगर धीरे-धीरे विस्तृत हो गई, तो उसके सारे-के-सारे सदस्य तो सन्यासी बनकर घूमने निकल नही पड़ेगे—इसलिए इसमे दो विभाग रखने जरूरी है—

पूर्ण : स्थावर और जंगम——

चन्द्रबाबू : खैर, नाम कुछ भी रख लीजिए। इसके अलावा अक्षयबाबू उस दिन जो बात कह रहे थे वह भी मुझे बुरी नही लगी। वे कह रहे थे कि चिरकुमार सभा से सम्बद्ध एक सभा और होनी चाहिए जिसमे विवाहित एव विवाहोन्मुख लोग लिये जा सके। गृहस्थो का भी तो देश के प्रति कुछ कर्त्तव्य है। अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार हरेक को किसी-न-किसी हितकारी कार्य में लगना पड़ेगा ——यही तो साधारण व्रत है। अपनी एक टोली कुमार-व्रत धारण करके देश-देश मे विचरण करेगी और दूसरी टोली कुमार-व्रत धारण करके एक जगह जमकर कार्य करेगी, और गृहस्थो की एक टोली अपनी-अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार किसी उपयोगी काम के सहारे देश के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करेगी। जो लोग पर्यटन सम्प्रदाय मे होगे उन्हे नक्शे बनाना, जमीन नापना, भू-तत्त्व विद्या, उद्भिद विद्या, प्राणितत्त्व आदि चीजे सीखनी होगी —वे जहाँ कही जायँगे, वहाँ के सारे तथ्यो की छानबीन किया करेंगे—तब कही भारतवर्ष के लोगो द्वारा भारतवर्ष के यथार्थ-विवरण को लिपिबद्ध करने का आधार बन सकेगा। हटर साहब पर निर्भर करके चलने की जरूरत नही रहेगी—

पूर्ण : चन्द्रबाबू अगर बैठे तो एक बात—

चन्द्रबाबू : नही, मैं कह रहा था—हम जहाँ भी जायँ वहाँ की ऐतिहासिक जन-श्रुतियो एव प्राचीन पोथियो का सग्रह करना अपना काम

होगा। शिला-लेख और ताम्र-पत्रों का भी अनुसन्धान करना होगा —इसलिए हमे कुछ दिनों तक प्राचीन लिपि का अभ्यास भी करना चाहिए।

पूर्ण : ये सव तो वाद की वाते है, अभी तो—

चन्द्रवावू : नही-नही, मैं यह नही कहता कि हरेक को सारी विद्याएँ सीखनी होगी, तव तो कभी अन्त ही न आयगा। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार हम इनमे से एक या दो या तीन विद्याएँ सीखेंगे।

श्रीश : लेकिन फिर भी—

चन्द्रवावू : यो समझो, पाँच वर्प। पांच वर्प मे हम लोग तैयार होकर निकल सकेगे। जो जीवन-भर का व्रत ग्रहण करेंगे उनके लिए पाँच वर्प कुछ भी नही होते। इसके अलावा इन पाँच वर्षो मे अपनी परीक्षा भी हो जायगी—जो लोग टिके रहेंगे उनके वारे मे फिर कोई सदेह नही रहेगा।

पूर्ण . लेकिन देखिए, अपनी सभा का जो स्थानान्तरण किया जा रहा है—

चन्द्रवावू : नही पूर्णवावू, आज अव और किसी तरह से भी नही, मुझे वड़ा जरूरी काम है। पूर्णवावू, मेरी वातो पर जरा अच्छी तरह सोच-विचारकर देखिए। शुरू मे हो सकता है, ये आपको असम्भव लगे —लेकिन ऐसा है नही। हाँ, कठिन जरूर है—पर अच्छे काम तो सभी कठिन होते हैं। अगर हमें पांच व्यक्ति भी पक्के मिल जायँ तो हम अपने कार्य से सदा के लिए भारतवर्प पर छा सकते हैं।

श्रीश : लेकिन आप कह रहे थे न कि वैलगाड़ी के पहिये आदि छोटी-मोटी चीजे—

चन्द्रवाव . सही है, न तो मै छोटा समझकर उनकी उपेक्षा करता हूँ—और न वड़े कामो से डरता हूँ—

पूर्ण : लेकिन सभा की वैठक के सम्वन्ध मे भी तो—

चन्द्रवावू . ये सव वातें कल होगी पूर्णवावू ! तो फिर आज चलूं।

(प्रस्थान)

विपिन · भैया श्रीश, चुप क्यो हो ? एक पागल का नशा देखकर दूसरे पागल का नशा उतर जाता है। चन्द्रवावू के उत्साह ने क्या तुम्हे

भी ठण्डा कर दिया है।

श्रीश : नही जी, बहुत-सी बातें हैं सोचने लायक। उत्साह क्या सदा डींग ही हाँकता है। कभी-कभी वह एकदम गुम-सुम भी हो जाता है, वही अवस्था भयकर होती है।

विपिन : पूर्णबाबू, अचानक किधर चले ?

पूर्ण : सभापतिजी को रास्ते मे घेरने जा रहा हूँ—क्या पता, भाग्य से रास्ता चलते-चलते दो-एक बाते सुन ही लें।

विपिन . बिलकुल उल्टा होगा। उनकी जो दो-एक बातें बच गई है वे तुम्हे सुनाते-सुनाते यह भी भूल जायँगे कि किधर जाना था ?

(वनमाली का प्रवेश)

वनमाली : कहिए श्रीशबाबू कैसे है ? विपिनबाबू अच्छे तो हैं ? अरे, पूर्णबाबू भी हैं, बहुत खूब। मैंने काफी कह-सुनकर कुमारटोली की उन दोनो पात्रियों को अटका रखा है।

श्रीश : लेकिन हमे अब और नही अटका सकते। हम कोई-न-कोई सगीन काम करने वाले हैं।

पूर्ण : आप लोग बैठें श्रीशबाबू, मुझे एक काम है।

विपिन : इससे तो अच्छा है कि आप बैठें पूर्णबाबू। हम दोनो मिलकर आपका काम पूरा कर आते है।

पूर्ण : सबसे अच्छा तो यह हो कि तीनो मिलकर पूरा करे।

वनमाली : लगता है, आप लोग परेशान है। कोई बात नही, मै फिर कभी आऊँगा।

तीसरा दृश्य

चन्द्रबाबू का घर

(चन्द्रमाधव बाबू, निर्मला)

चन्द्रबाबू : निर्मल !

निर्मला : क्या है मामा ?

चन्द्रबाबू : निर्मल, मुझे अपने गले का बटन नही मिल रहा है।

निर्मला : वही कही होगा।

चन्द्रबाबू : (निश्चिन्त भाव से) एक बार ढूंढ देखो न फेनी ![1]

निर्मला : न जाने कहाँ क्या पटक देते हो, कैसे ढूंढू ।

चन्द्रबाबू : (मन में कुछ सन्देह होने के कारण कोमल कण्ठ से) तुम्ही तो ढूंढ सकती हो निर्मला ! मेरी त्रुटियो के प्रति इतना धैर्य और किसमे है !

(निर्मला का रुद्ध अभिमान चन्द्रबाबू के इस स्नेह-स्वर से अकस्मात अश्रु-जल में विगलित होने का उपक्रम करता है; वह चुपचाप संवरण करने की चेष्टा करती है। उसे निरुत्तर देखकर चन्द्रबाबू निर्मला के पास आते है। निर्मला के चेहरे को दो उँगलियों से ऊपर उठाकर क्षण-भर के लिए देखते रहते है।)

(मुस्कराते हुए) निर्मल आकाश मे कुछ मलिनता दिखाई दे रही है। क्या बात है बोलो ?

निर्मला : (क्षुब्ध स्वर में) इतने दिनो बाद अब मुझे अपनी चिरकुमार सभा से विदा क्यो कर रहे हो ! मैंने क्या बिगाड़ा है ?

चन्द्रबाबू (चकित होकर) चिरकुमार सभा से तुम्हे विदा कर रहा हूँ ? उस सभा से तुम्हारा क्या लगाव है ?

निर्मला दरवाज़े की ओट मे रहने से शायद लगाव नही रहता ? और जो भी लगाव है वही क्यो जाय ?

चन्द्रबाबू : निर्मल, तुम तो इस सभा का काम करोगी नही—जो लोग काम करेंगे उन्हीकी सुविधा के ख़याल से—

निर्मला : मैं क्यो नही करूँगी ? मैंने तुम्हारा भानजा न होकर तुम्हारी भानजी के रूप मे जन्म लिया है, क्या इसीलिए मैं तुम्हारे कल्याण-

---

१. स्नेह-सम्बोधन (एक मिठाई का नाम)।

कार्यो मे योग नही दे सकती ? तो फिर मुझे इतने दिन तक शिक्षा क्यो दी ! अपने हाथो मेरा सम्पूर्ण मन-प्राण जाग्रत करके अब अन्त मे कार्य-पथ किसलिए बन्द कर रहे हो ?

चन्द्रबाबू : निर्मल, तुम्हे तो कभी-न-कभी ब्याह करके घर-गृहस्थी मे लगना होगा—चिरकुमार सभा का काम—

निर्मला : मैं ब्याह नही करूँगी।

चन्द्रबाबू : तो फिर क्या करोगी ?

निर्मला : देश के काम मे तुम्हारी सहायता करूँगी।

चन्द्रबाबू : हम लोग तो संन्यास-व्रत ग्रहण करने जा रहे है।

निर्मला भारतवर्ष मे क्या कभी कोई सन्यासिनी नही हुई ?

(चन्द्रमाधव बाबू निरुत्तर खड़े रह जाते है।)

मामा अगर कोई लड़की सच्चे हृदय से तुम लोगो का व्रत ग्रहण करने को तत्पर हो तो तुम उसे अपनी सभा मे प्रकट रूप से ग्रहण क्यों नही कर सकते। मैं तुम्हारी कौमार्यसभा की सदस्य क्यो नही बन सकती ?

चन्द्रबाबू : (दुविधा में पड़कर) जो अन्य सदस्य हैं—

निर्मला : जो सदस्य हैं, जो भारतवर्ष के कल्याण का व्रत ले रहे हैं, जो सन्यासी बनने चले हैं, वे क्या एक व्रतधारिणी स्त्री को बे-खटके अपने दल मे ग्रहण नही कर सकते ? अगर ऐसा है तो फिर वे गृहस्थ बनकर घर मे बन्द रहे यही अच्छा है, उनसे कुछ नही होने का।

(चन्द्रमाधव बाबू अपने बालों में पाचों उँगलिया जोर-जोर से फेरते-फेरते उन्हें बिखेर लेते है। तभी हठात् वह खोया हुआ बटन उनकी आस्तीन में से जमीन पर गिर पड़ता है। निर्मला हँसते-हँसते उसे उठाकर चन्द्र-माधव बाबू की कमीज में लगा देती है—चन्द्रमाधव बाबू इस ओर ध्यान ही नहीं देते—बालों में उँगलियाँ फेर-फेरकर दिमाग के घोसले से चिन्ताओं की चिड़िया उड़ाने लगते हैं। निर्मला का प्रस्थान।)

(पूर्णबाबू का प्रवेश)

पूर्ण : चन्द्रबाबू, सोचकर देखा आपने ! मेरे विचार से अपना सभा का स्थानान्तर करना ठीक नही।

चन्द्र बाबू : आज और एक बात उठी है, पूर्णबाबू ! उस पर तुम्हारे साथ खुल-

कर चर्चा करना चाहता हूँ। मेरी एक भानजी है, शायद तुम जानते हो।

पूर्ण . (निर्गूढ भाव से) आपकी भानजी ?

चन्द्रवाबू : हाँ, उनका नाम है निर्मला। अपनी चिरकुमार सभा से उनके मन का वडा लगाव है।

पूर्ण · (चकित होकर) सच !

चन्द्रवाबू . मेरा विश्वास है कि उनका अनुराग और उत्साह हममे किसी से कम नही है।

पूर्ण : (उत्तेजित होकर) ऐसी वात सुनते ही हमारा उत्साह वढ जाता है। नारी होकर भी वे—

चन्द्रवाबू . मेरा भी यही खयाल है, नारी का सरल उत्साह पुरुप के उत्साह में मानो नये प्राणो का सचार कर देता है—मैंने आज स्वयं इसका अनुभव किया है।

पूर्ण . (आवेगपूर्ण भाव से) इसका अनुमान तो मैं भी वखूवी लगा सकता हूँ।

चन्द्रवाबू . पूर्णवावू, क्या तुम्हारी भी यही राय है ?

पूर्ण कौन-सी राय।

चन्द्रवाबू : अर्थात्, जो नारी सचमुच अनुरक्त हो वह हमारे कठिन कर्त्तव्य में वाधा न होकर यथार्थ मे सहायक हो सकती है।

पूर्ण : (नेपथ्य की ओर देखकर ऊँची आवाज में) इस वारे मे मुझे लेश-मात्र भी सदेह नही। पुरुप के अनुराग का एक-मात्र आधार है स्त्री जाति का अनुराग—उनका उत्साह हमारा उद्दीपन है। स्त्रियो का उत्साह ही नवजात शिशु की भाँति पुरुष के उत्साह का पालन-पोपण कर सकता है।

(श्रीश और विपिन का पवेश)

श्रीश · सो तो कर सकता है पूर्णवावू—लेकिन क्या उसी उत्साह के अभाव के कारण आज सभा मे जाने मे देर हो रही है ?

चन्द्रवाबू · नही नही, देर होने का कारण है, मुझे अपने गले का वटन नही मिल रहा है।

श्रीश : मुझे तो आपके गले में एक वटन पहले से ही लगा हुआ दीख रहा

है—क्या और चाहिए। मिल भी जाय तो और छेद कहाँ से लायेंगे ?

चन्द्रबाबू : (गले से हाथ लगाकर) अरे हाँ, ठीक तो है। हम सभी तो यहाँ उपस्थित है अच्छा हो अब उस बात की चर्चा कर ली जाय। क्या राय है पूर्णबाबू ?—

पूर्ण : बात तो अच्छी है, लेकिन इधर देर हो रही है न ?

चन्द्रबाबू : नही-नही, अभी समय है।श्रीशबाबू, तुम लोग ज़रा बैठो न, बात ज़रा शान्ति से विचारने की है। मेरी एक भानजी हैं, उनका नाम है निर्मला—

(पूर्ण अचानक खाँसते-खाँसते लाल हो उठता है)

उनका मन अपनी कुमार-सभा के सारे उद्देश्यों से पूरी तरह मिलता है।

(श्रीश और विपिन अविचलित निरुत्सुक भाव से सुनते रहते हैं।)

यह बात मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उनका उत्साह हम किसी से भी कम नही।

(श्रीश और विपिन की ओर से कोई उत्तर न पाकर चन्द्रबाबू भी मन-ही-मन कुछ उत्तेजित हो जाते है।)

यह बात मैंने खूब सोच-विचारकर देखी है कि स्त्री जाति का उत्साह पुरुष के सभी वृहत् कार्यो का महत्तर आधार है। क्यो पूर्णबाबू ?

पूर्ण . (निस्तेज भाव से) सो तो है ही।

चन्द्रबाबू (अचानक तेजी से) निर्मला अगर कुमार-सभा की सदस्या बनने की प्रार्थिनी हैं तो हम उन्हे सदस्या क्यो नही बना सकते।

पूर्ण . क्या कह रहे हैं चन्द्रबाबू ?

श्रीश : हम लोगो ने कभी कल्पना भी नही की थी कि कोई नारी हमारी सभा की सदस्या बनने की इच्छा प्रकट करेगी, अतएव इस विषय में हमारा कोई नियम ही नही है।

विपिन . निषेध भी नही है।

श्रीश : स्पष्ट निषेध न सही, लेकिन हमारी सभा के जो उद्देश्य है वे नारी से नही सध सकते।

विपिन : हमारी सभा के उद्देश्य संकीर्ण नही है। एव वृहत् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि भाँति-भाँति की क्षमता वाले भाँति-भाँति के व्यक्ति भाँति-भाँति के कार्यो में लगे। स्वदेश का हित-साधन एक नारी जिस ढंग से कर सकती है तुम उस ढंग से नही कर सकते, और तुम जिस ढंग से कर सकते हो उस ढग से कोई नारी नही कर सकती—अतएव सभा के उद्देश्यो को सर्वांग-सम्पूर्ण भाव से पूरा करने के लिए जिस तरह तुम्हारी आवश्यकता है उसी तरह नारी-सदस्य की भी आवश्यकता है।

श्रीश . जो लोग काम करना नही चाहते वे ही उद्देश्य को व्यर्थ का फैलाव देते है। सच बनाने के लिए लक्ष्य को सीमित करना पड़ता है। अपनी सभा के उद्देश्य को तुम जितना बड़ा मानकर निश्चिन्त हो मैं उतना बडा नही।

विपिन : अपनी सभा का उद्देश्य कम-से-कम इतना बड़ा तो है ही कि तुम्हे ग्रहण करने के लिए मुझे छोड़ने की जरूरत नही और मुझे ग्रहण करने के लिए तुमको छोड़ने की जरूरत नही। अगर यहाँ मेरे-तुम्हारे दोनो के लिए जगह है, अगर यहाँ हम दोनो की ही उपयोगिता और आवश्यकता है, तो फिर भिन्न प्रकृति के एक और व्यक्ति के लिए यहाँ स्थान होना कौन मुश्किल है।

श्रीश · उदारता बहुत अच्छी चीज है, यह मैं नीति-शास्त्र मे पढ़ चुका हूँ। मैं तुम्हारी यह उदारता नष्ट करना नही चाहता, केवल इसे बाँट देना चाहता हूँ। स्त्रियाँ जो काम कर सकती है उसके लिए वे अलग सभा बनायँ, हम उसके सदस्य बनने नही जायँगे, और अपनी सभा भी अपनी बनी रहे। अन्यथा हम केवल एक-दूसरे के कामो की बाधा बन जायँगे। दिमाग चिन्ता करता मरे, उदर पाचन करता रहे—पाकयत्र दिमाग में और दिमाग पेट मे घुसने की चेष्टा न करे, यही बहुत है।

विपिन . लेकिन इसी खयाल से अगर दिमाग काटकर एक जगह और पाकयत्र काटकर दूसरी जगह रख दिया जाय तो भी काम मे सुविधा नही होती।

श्रीश (अत्यन्त झीककर) उपमा कोई तर्क तो है नही कि उसका खण्डन

करते ही मेरी बात का भी खण्डन हो गया। उपमा तो बस थोड़ी दूर तक ही लागू होती है।

विपिन · अर्थात् सिर्फ तुम्हारे तर्क के समर्थन मे लागू होती है।

पूर्ण · (अत्यन्त अनमना होकर) विपिनबाबू, मेरी तो राय है कि अपने इन कामों मे पड़ने से नारियों का माधुर्य नष्ट होता है।

चन्द्रबाबू : (आँखों के बिलकुल पास एक किताब लाकर) महत् कार्यो में जो माधुर्य नष्ट होता हो वह माधुर्य जबरस्ती बचाने लायक नही।

श्रीश : नही चन्द्रबाबू, मै तो ये माधुर्य-सौन्दर्य की बात ही नहीं चलाता। हमे सैनिको की तरह एक चाल से चलना है, अनभ्यास या स्वाभाविक दुर्बलता के कारण जिनके पिछड़ जाने की सभावना है उन्हे अपने साथ ढोकर हम अपना सब-कुछ नष्ट कर बैठेंगे।

(तभी निर्मला अकुण्ठित मर्यादा के साथ कमरे में प्रवेश कर नमस्कार करके खडी हो जाती है। सभी जने अचानक स्तभित रह जाते हैं। अश्रुपूर्ण क्षोभ के कारण उसका गला भरा आया है।)

निर्मला : आपका उद्देश्य क्या है, और आप देश के कार्य मे कहाँ तक पहुंच सकते है, यह तो मैं नही जानती, लेकिन मै अपने मामा को जानती हूँ—वे जिस राह पर चले जा रहे है, उस पर उनका अनुसरण करने से आप मुझे क्यो रोकते है।

(श्रीश निरुत्तर है, पूर्ण कुंठित और अनुतप्त, विपिन प्रशान्त गंभीर, चन्द्रबाबू गहन चिन्ता में डूबे हुए।)

निर्मला : (पूर्ण और श्रीश की ओर छलछलाते नयनों से कटाक्ष करते हुए) मैं अगर कार्य करना चाहती हूँ, बचपन से जो मेरे गुरु रहे हैं, अगर जीवन-भर उनके सारे शुभ प्रयत्नो मे उनकी अनुगामिनी बनना चाहती हूँ, तो आप निरे तर्क के सहारे मुझे अयोग्य प्रमाणित करने की चेष्टा क्यो करते है? आप लोग मुझे कितना जानते है?

(श्रीश स्तब्ध है, पूर्ण को पसीना छूट रहा है।)

निर्मला : न तो मैं आपकी कुमार-सभा जानती हूँ, न और कोई सभा, किन्तु जिनकी शिक्षा पाकर मैं बड़ी हुई हूँ वे जब कुमार-सभा के सहारे अपने जीवन का सारा उद्देश्य पूरा करना चाहते है, तब इस कुमार-सभा से आप मुझे दूर नही रख सकते। (चन्द्रबाबू की ओर मुड़कर

तुम अगर कहो कि मै तुम्हारे कार्य के योग्य नही हूँ, तो मैं विदा लेने को तैयार हूँ, लेकिन ये लोग मुझे क्या जानें ? ये लोग यहाँ इकट्ठे होकर मुझे तुम्हारे अनुष्ठान से अलग करने के लिए तर्क क्यो कर रहे है ?

श्रीश : (विनीत मृदु स्वर में) माफ करे, मैं तो बस अपने-आपको जानता हूँ। कार्य मे जुटने के लिए इससे अधिक जानने की मुझे कोई जरूरत नही।

(चन्द्रबाबू आखों के पास अपनी दाहिनी हथेली लाकर निरीक्षण करने लगते हैं। पूर्ण चमत्कारपूर्ण बात कहना चाहता है, लेकिन उसका बोल ही नहीं फूटता।)

पूर्ण : (मन-ही-मन बार-बार दुहराने के बाद) देवी, आप इस पंकिल पृथ्वी के कार्य मे अपने पवित्र कर-कमल क्यो सानना चाहती हैं।

(ये वचन मन-ही-मन जैसे सुन्दर लगे थे, कहने पर वैसे नही लगे। पूर्ण कहते ही समझ जाता है कि उसकी बात गद्य में पद्य की भाँति कुछ अत्युक्तिपूर्ण हो गई है। लज्जा से उसके कान लाल हो उठते है।)

विपिन : (स्वाभाविक सुगभीर शान्त स्वर में) पृथ्वी जितनी पंकिल है, उसके सुधार का कार्य उतना ही पवित्र है।

श्रीश · सभा की बैठक मे स्त्री सदस्य बनाने के बारे मे बाकायदा प्रस्ताव पेश करने के बाद जो निश्चय होगा उसकी सूचना आपको दे दी जायगी।

(निर्मला पल-भर भी अपेक्षा न करके चुपचाप चले जाने का उपक्रम करने लगती है।)

चन्द्र : (सहसा) फेनी, मेरे गले का वह बटन।

निर्मला : (सलज्ज मुस्कान के साथ कोमल स्वर में) गले में ही है।

चन्द्र (गले पर हाथ फेरते हुए) अरे हाँ, यह रहा।

(तीनों छात्रों की ओर देखकर हँसते है।)

चौथा दृश्य

अक्षय का घर

(नृपबाला और नीरबाला)

नृपबाला : क्यों नीरू, आजकल तू रह-रहकर इतनी गम्भीर क्यों हो जाती है ?

नीरबाला : हमारे यहाँ जितना गाभीर्य है वह क्या सब-का-सब अकेला तेरा है ? मेरी खुशी, मैं गभीर होऊँगी।

नृपबाला : तू क्या सोचती रहती है, मैं खूब जानती हूँ।

नीरबाला : तुझे इतना अन्दाज भिडाने की क्या जरूरत है भई। अब तो तुझे अपनी फिक्र करने का वक्त आ गया है।

नृपबाला : (नीर के गले लगकर) तू सोचती है, मैया री मैया, हम लोग भी कैसी आफत है। हमे विदा करने में भी इतनी चिन्ता, इतना झझट।

नीरबाला : तो भई, हम कोई फेंक देने लायक चीज़े तो हैं नही कि चाहे जहाँ पटककर झगडा खत्म। हमारे लिए इतना हगामा हो रहा है, यह तो गौरव की बात है। 'कुमारसभव' मे पढा है न, गौरी के ब्याह के लिए एक पूरा-का-पूरा देवता जलकर राख हो गया था। अगर किसी कवि को खबर लग गई तो हमारे ब्याह का भी वर्णन छप जायगा।

नृपबाला : नही भई, मुझे बड़ी लाज आती है।

नीरबाला : और शायद मुझे लाज नही आती ? मैं क्या बेहया हूँ ? लेकिन करे क्या, बोल ! स्कूल मे जिस दिन प्राइज़ लेने गई थी, लाज आई थी, फिर भी अगले साल प्राइज़ पाने के लिए रात-भर जगकर पाठ याद किया था। लाज भी आती है, प्राइज भी नही छोड़ा जाता, हमारा स्वभाव ही ऐसा है।

नृपबाला : अच्छा नीरू, इस बार जिस प्राइज़ की बात चल रही है, उसके लिए क्या तू बहुत परेशान है।

नीरबाला : कौन-सा प्राइज, बोल ! चिरकुमार सभा के वे दो सदस्य ?

नृपबाला : जो भी हो, तू तो सब समझती है।

नीरबाला तो भई, सच कहूँ ? (नृप के गले लगकर कान में) सुना है, चिरकुमार सभा के दोनो सदस्यो मे बड़ा मेल है, अगर हम दोनो उन दोनों दोस्तो के हाथ पड़ें तो व्याह के बाद भी हमारा सग न छूटेगा—नही तो क्या ठिकाना है हममे से कौन किधर चली जाय। इसीलिए तो भई उन युगल-देवता की पूजा का इतना सरजाम कर रही हूँ। हाथ जोड़कर मन-ही-मन कह रही हूँ, हे कुमार-सभा के अश्विनी कुमार-युगल, तुम हम दोनो वहनो को एक वृन्त के दो फूलो की तरह एक साथ ग्रहण करो !

(विरह की आशंका के उल्लेख से ही दोनों बहनें एक-दूसरे को अंक में भर लेती है। नृप की आखों में आसू थम हा नहीं पाते।)

नृपबाला : अच्छा नीरू, जरा यह तो बता, तू मँझली जीजी को छोडकर कैसे जायगी। हम दोनो चली गई तो फिर उनके पास कौन रहेगा ?

नीरबाला : यह बात बहुत बार मेरे मन मे आई है। अगर वे साथ रहने दे तो मैं छोड़कर जाऊँ ही क्यो। भई, उनके पति नही है, फिर हमारे भी पति न हो, न सही। मँझली जीजी से ज्यादा सुख लेकर हमें क्या करना है ?

(पुरुषवेशधारिणी शैलबाला का प्रवेश)

नीरबाला : (टेबिल के ऊपर रखी थाली में से एक फूलमाला उठाकर शैलबाला के गले में डालते हुए) हम दोनो स्वयंवरा तुम्हे अपने पतिरूप मे वरण करती हैं।

(शैलबाला को प्रणाम करती है।)

शैलबाला : है, हैं, यह क्या !

नीरबाला डरो मत भई, हम सौते तुम्हारे लिए झगडा नही करेगी। अगर कर भी बैठें, तो सँझली जीजी मुझसे पार नही पा सकेंगी—मैं अकेली ही निपट लूँगी, तुम्हे कोई कष्ट न होगा। हँसी नही मँझली जीजी, मैं सच कहती हूँ, तुम्हारे साथ हम जितने प्यार से रहती है, क्या और कही मिल सकता है ! फिर हमे पराए गले क्यो मढना चाहती हो।

(नृप की आखों से आसू झरने लगते हैं।)

शैलबाला : (उसके आसू पोछते हुए) छि छि: नृप, यह क्या ! तुम्हारा सुख

किसमे है, यह भला तुम क्या जानो ! मेरे साथ अगर तुम्हारा जीवन सार्थक बन सकता तो क्या मैं तुम्हे किसी और के हाथो सौप सकती।

(रसिक का प्रवेश।)

रसिक : भई, मुझ-जैसे असभ्य को भी तुम लोगो ने सभ्य बना डाला—आज तो सभा यहाँ होगी, किस तरह चलना चाहिए, जरा सिखा दे।

नीरबाला : फिर वही पुराना मजाक ? सभ्य-असभ्य की यह बात तुम परसो से बोले जा रहे हो।

रसिक · जिसे जन्म दिया जाता है उसके प्रति क्या ममता नही होती ? मज़ाक को क्या एक बार मुँह से निकालते ही राजपूतो की कन्या की तरह गला दबाकर मार डालना चाहिए। अभी क्या है—जब तक चिरकुमार सभा रहेगी तब तक यह मजाक तुम्हे रोज सुबह-शाम सुनना पड़ेगा।

नीरबाला : तब तो सभा को ज़रा जल्दी ही खत्म करना पड़ेगा। भई मँझली जीजी, अब दया-माया रहने दो—रसिक बाबा की रसिकता (मज़ाक) पुरानी क्यो पड़ने दे, चिरकुमार सभा का चिरत्व हम आनन-फानन मे मिटा देगी, तभी तो अपना विश्वविजयिनी नारी नाम सार्थक होगा। किस तरह आक्रमण करना चाहिए, कोई प्लान तय किया है ?

शैलबाला : कोई नही। मैदान में उतरने पर जब जो सूझ जाय।

नीरबाला : ज्यो ही मेरी ज़रूरत हो, रणभेरी बजाते ही मैं हाज़िर हो जाऊँगी। 'मैं क्यो डरूँ सखि कुमार-सभा से। क्या है नही बल इस भुज-मृणाल मे !'

(अक्षय का प्रवेश)

अक्षय आज की सभा मे मैं विदुषी-मण्डली से एक ऐतिहासिक प्रश्न पूछना चाहता हूँ।

शैलबाला : हम तैयार है।

अक्षय . अच्छा बताओ : जिन दो डालो पर खडे थे उन्ही को काटने की चेष्टा करने वाले वे कौन थे ?

नृपवाला · मैं बताऊँ मुखर्जीबाबू, कालिदास।

अक्षय : गलत। उनसे भी बड़े एक सज्जन। श्री अक्षयकुमार मुखोपाध्याय।

नीरवाला : वे दोनो डाले कौन-सी है।

अजय : (बाईं ओर नीर को खींचते हुए) एक यह (दाहिनी ओर नृप को खींचते हुए) और एक यह।

नीरवाला : और कुल्हाड़ा शायद आज आ रहा है।

अक्षय : आ रहा है, क्यो, यो कहो, आ चुका है। वह देखो, सीढी पर पैरों की आहट सुनाई पड़ रही है।

(भगदड। शैल भागते समय रसिक बाबा को घसीटकर ले जाती है। चूड़ियों की झंकार और त्रस्त पद-पल्लवों का द्रुत-स्वर विलीन होते-न-होते श्रीश और विपिन का प्रवेश। दूर से झम-झम झन-झम आवाज आती रहती है।)

अक्षय · पूर्णबाबू नही आए ?

श्रीश चन्द्रबाबू के घर पर उनसे भेट तो हुई थी, लेकिन अचानक तबियत खराब हो जाने के कारण वे आज आ नही सके।

अक्षय · (रास्ते की ओर देखते हुए) आप ज़रा बैठिए—मैं दरवाज़े पर जाकर चन्द्रबाबू की बाट देखता हूँ। बेचारो को दिखाई नही देता, कहाँ के कहाँ पहुँच जायँ, कुछ ठीक नही—आस-पास ऐसी जगह भी है जहाँ कुमार-सभा की बैठक का किसी भी तरह स्वागत नही हो सकता।

(अक्षय का प्रस्थान। अक्षय के चले जाने पर श्रीश कमरे को अच्छी तरह देखने लगता है। कमरे में दो दिये जल रहे ह। उन दोनों को घेरकर फीरोजी रंग का रेशमी पर्दा पड़ा है। पर्दे से छनकर आता उजाला हल्का और रंगीन हो उठा है। टेबिल पर बीच में फूलदानी में फूल सजे हुए है।)

विपन : (मुस्कराते हुए) कुछ भी कहो भाई। यह कमरा कुमार-सभा के उपयुक्त नही।

श्रीश . (विस्मय से) सो क्यो ?

विपिन : कमरे की सजावट तुम्हारे नवीन सन्यासियो के लिए भी कुछ अतिरिक्त लग रही है।

श्रीश : ऐसी कोई चीज़ नही जो मेरे संन्यास-धर्म के लिए अतिरिक्त हो।

विपिन : सिर्फ नारी को छोड़कर।

श्रीश . हाँ, बस एक उसीको छोड़कर।

(बात में और दिनों का-सा जोर नहीं है।)

विपिन : दीवार की तस्वीरो से, और अन्य अनेक प्रकार से मानो उसी नारी जाति का ढेरो परिचय मिल रहा है।

श्रीश . ससार मे नारी जाति का परिचय तो हर जगह मिलता है।

विपिन : सो तो है ही। अगर कवियों की बात का विश्वास करे, तो चाँद मे, फूलो मे, लता-पत्तो मे, कही भी अभागे पुरुष को नारी जाति के परिचय से निस्तार नहीं।

श्रीश : (हँसते हुए) मैंने सोचा था, कम-से-कम चन्द्रबाबू के घर के उस एकतल्ले वाले कमरे मे रमणी का कोई सम्भव नही है। आज वह भ्रम भी अचानक मिट गया। सचमुच, वे तो दुनिया-भर मे बिखरी है।

विपिन बेचारे मुट्ठी-भर चिरकुमारो के लिए जरा भी गुजाइश नही छोड़ी। सभा करने के लिए जगह मिलना भी मुश्किल है।

श्रीश यह देखो न।

(कोने की एक तिपाई पर से बालों में लगाने के दो-एक काँटे उठाकर दिखाता है।)

विपिन . (काँटे लेकर उनका निरीक्षण करते हुए) भैया, यह स्थान तो कुमारों के लिए निष्कंटक नही।

श्रीश . फूल भी है, काँटे भी हैं।

विपिन . यही तो मुश्किल है। सिर्फ काँटे होते तो बचकर चल लेते।

(श्रीश दूसरे कोने में किताबों की एक छोटी शैल्फ से किताबे निकाल-निकालकर देखने लगता है। कुछ उपन्यास है, कुछ अंग्रेजी काव्य-संग्रह। पालग्रेव का गीतकाव्य-स्वर्ण-कोष खोलकर देखता है, हाशिये पर जनानी लिखावट में नोट लिखे है। तब शुरू का पन्ना पलटकर देखता है। फिर उलट-पलटकर विपिन के सामने रख देता है।)

विपिन : नृपबाला! मैं दावे से कह सकता हूँ कि यह नाम किसी पुरुष का नही हो सकता। तुम्हारा क्या खयाल है?

श्रीश : मेरा भी यही विश्वास है। यह नाम भी पराई जाति का मालूम पड़ता है।

(और एक किताब दिखाता है।)

विपिन . नीरबाला ! काव्य-ग्रंथ मे तो यह नाम चल सकता है, लेकिन कुमार-सभा मे—

श्रीश : कुमार-सभा मे भी अगर ये नामधारिणी नारियाँ चली आयें तो उनका दरवाजा बन्द कर देने लायक बली तो हममे कोई नही दीखता।

विपिन · पूर्ण तो एक ही चोट मे घायल हो गया—कौन जाने बचेगा भी या नही।

श्रीश : सो कैसे ?

विपिन . तुमने शायद ध्यान नही दिया।

श्रीश : अरे नही, यह सिर्फ तुम्हारा अनुमान है।

विपिन : मन तो अनुमान की ही चीज है। न देखा जा सकता है, न बाँधा जा सकता है।

श्रीश : तो क्या पूर्ण का रोग भी चिकित्सा-शास्त्र मे नही आता ?

विपिन . नही भाई, इन व्याधियों के लिए मैडिकल कालेज मे कोई लैक्चर नही होता।

श्रीश . इस घर के दरवाज़े मे घुसते ही रसिक चक्रवर्ती नाम के जिन वृद्ध युवक से भेंट हुई थी उन्हे चिरकुमार सभा के उपयुक्त द्वारपाल कहना कठिन है।

विपिन : मुझे तो ऐसा लगा मानो शिवजी के तपोवन मे आग लगाने के लिए स्वय कामदेव नन्दी का रूप धरकर आए हो, आदमी विश्वास-योग्य नही जँचता।

(चन्द्र का प्रवेश)

चन्द्रबाबू . आज के वाद-विवाद की उत्तेजना से पूर्णबाबू की तबियत अचानक खराब हो गई. इसलिए मैंने यह उचित समझा कि उन्हे घर पहुँचा आऊँ।

विपिन : पूर्णबाबू इतने कमजोर लगते है कि उन्हे पहले से ही सावधान रहना चाहिए था।

चन्द्रबाबू : पूर्णबाबू कोई खास असावधान तो नही लगते।

(अक्षय और रसिक का प्रवेश)

अक्षय : माफ कीजिएगा। बस मैं इस नए सदस्य को आपके हाथो सौंपकर चला जाऊँगा।

रसिक : (हँसकर) मेरी नवीनता बाहर से कुछ खास दृष्टिगोचर नही होती—

अक्षय : इनका स्वभाव इतना विनम्र है कि इन्होने उसे बाह्य प्राचीनता से ढँक लिया है—धीरे-धीरे परिचय मिलेगा। यही है सार्थक-नामा श्री रसिक चक्रवर्ती।

रसिक : मेरे रस-बोध का परिचय पाने से पहले ही पिताजी ने मेरा नाम रसिक रख दिया था—अब पितृ-सत्य का पालन करने के लिए मुझे रसिकता (मज़ाक) का प्रयत्न करना पड़ता है, फिर 'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोत्र दोऽप.'।

(अक्षय का प्रस्थान। पुरुषवेश में शैल का प्रवेश। शैल आकर सबको नमस्कार करती है। क्षीणदृष्टि चन्द्रमाधव बाबू उसे आँखें मिचकाकर देखते हैं—विपिन और श्रीश उसकी ओर ताकते रह जाते हैं।

शैल के पीछे दो नौकर हाथ में कुछ भोजन-पात्र लेकर उपस्थित होते हैं। शैल रूपे की छोटी-छोटी थालियाँ लेकर संगमरमर की टेबिल पर सजाने लगती है।)

रसिक . ये है आपकी सभा के एक और नए सदस्य। इनकी नवीनता के सम्बन्ध मे कोई विवाद नही। मुझसे एकदम उल्टे। इन्होने अपनी बुद्धि की प्रवीणता को बाह्य नवीनता मे छुपा लिया है। आप लोग, लगता है, कुछ अचरज मे पड गए हैं। अचरज की तो बात ही है। इन्हे देखकर लगता है मानो कोई बालक हो। पर मैं इस बात की जमानत दे सकता हूँ कि ये बालक नही है।

चन्द्रबाबू . इनका नाम ?

रसिक श्री अवलाकान्त चट्टोपाध्याय।

श्रीश : अवलाकान्त ?

रसिक : यह नाम अपनी सभा मे चलने लायक नही है, यह मानता हूँ। नाम के बारे मे मेरा भी कोई विशेप मोह नही—अगर बदलकर

विक्रमसिंह या भीमसेन या और कोई उपयुक्त नाम रखना चाहे तो ये आपत्ति नही करेंगे। यद्यपि शास्त्रों मे कहा गया है 'स्वनामा पुरुषा धन्या'—लेकिन ये अवलाकान्त नाम से ही जगत् मे पौरुष अर्जन करने के लिए व्याकुल हो, ऐसा नही है।

श्रीश : यह आप क्या कह रहे है श्रीमान्। नाम कोई पहनने का वस्त्र तो है नही जो चट से बदल डाला।

रसिक : यह आपका आजकल का सस्कार है श्रीशबाबू! प्राचीन काल के लोग नाम की गिनती पोशाक मे ही करते थे। आप ही देख लीजिए, अर्जुन का कौन-सा नाम पिता का दिया था, यह कहना कठिन है—पार्थ, धनजय, सव्यसाची, लोगो के मुँह मे जब जो आया, ले लिया। देखिए, नाम को आप कोई ज्यादा सत्य न समझें,—इन्हे अगर आप भूल से अवलाकान्त न भी कहे तो भी ये आप पर लाइबेल का मुकद्दमा नही चलायेंगे।

श्रीश : (हँसकर) आप जब इतना अभय दे रहे है तब चिन्ता की कोई बात नही। लेकिन इनके क्षमा-गुण के परिचय की जरूरत ही नही पड़ेगी—हम नाम लेने मे भूल नही करेंगे।

रसिक : आप भूल न भी करे श्रीमान्, पर मैं तो कर बैठता हूँ। रिश्ते मे ये मेरे नाती होते है—इसीलिए इनके मामले मे मेरी जीभ जरा फिसल जाती है, अगर कभी कुछ-का-कुछ कह बैठूं तो माफ कर दीजिएगा।

श्रीश : अवलाकान्त बाबू, आपने यह सब क्या आयोजन कर डाला। हमारी सभा के कार्यक्रम मे मिठाई तो थी नही।

रसिक · (खडे होकर) यह त्रुटि जिन्होने सुधारी है उन्हे मैं सभा की ओर से धन्यवाद देता हूँ।

शैल : (थाली सजाते-सजाते) श्रीशबाबू, क्या आहार भी आपके नियमो के विरुद्ध है।

श्रीश : (विपुलायतन विपिन को अपने पास खींचते हुए) इस सदस्य का डील-डौल देखते ही इस बारे में कोई सशय नहा रहेगा।

विपिन : नियम की बात तो यह है अवलाकान्त बाबू, ससार मे श्रेष्ठ चीजें अपने नियम खुद ही रचती हैं। समर्थ लेखक अपने नियम से ही चलता है,

श्रेष्ठ काव्य समालोचक का नियम नही मानता। आपने जो मिठाई इकट्ठी की है, इसके वारे में भी किसी सभा का नियम लागू नही होता—इसका तो एक ही नियम है, वैठो और खत्म करो। जब तक यह मौजूद है तब तक जगत् के वाकी सारे नियम दरवाजे पर खड़े रहेगे।

श्रीश : तुम्हे हुआ क्या विपिन। तुम्हे खाते तो जरूर देखा है, पर एक साँस में इतनी वातें करते तो पहले कभी नही देखा।

विपिन : रसना उत्तेजित हो गई है न, सरस वाक्य वोलना अव मेरे लिए बड़ा आसान हो गया है। हाय ! इस समय मेरे जीवनी-लेखक कहाँ है !

रसिक : (गजी खोपड़ी पर हाथ फेरते हुए) मुझसे इस काम की उम्मीद न करियेगा, मै इतने दिनो तक इन्तज़ार न कर सकूँगा।

(नए कमरे की विलास सज्जा से घिरकर चन्द्रमाधव वावू का मन विक्षिप्त हो उठा है। उनका उत्साह-स्रोत सही पथ पर प्रवाहित नहीं होने पा रहा है। वे कभी कार्यवाही का रजिस्टर और कभी अकारण अपनी हस्त-रेखाएँ निरखने लगते है।)

शैलवाला : (चन्द्रवावू के पास जाकर) सभा के कार्य मे अगर कोई विघ्न डाला हो तो माफ करें चन्द्रवावू, थोड़ा जलपान—

चन्द्रवावू : इन औपचारिकताओ से सभा के कार्य मे विघ्न पड़ता है, इसमे सन्देह नही।

रसिक : अच्छी वात है, परीक्षा कर देखिए। मिठाई से अगर सभा के कार्य मे रुकावट हो तो—

विपिन : (धीमे से) तो भविष्य मे, न हो, सभा का कार्य वन्द करके मिठाई ही चले।

श्रीश : आइए रसिक वावू, आप वैठे कैसे रह गए ?

रसिक : यो तो मैं रोज माँगकर और कभी-कभी छीनकर भी खाता रहता हूँ, आज चिरकुमार सभा के सदस्य के रूप में आप लोगो के संसर्ग-गौरव से तनिक अनुरोध की प्रत्याशा मे था, लेकिन—

शैलवाला : लेकिन क्या मतलव रसिकवावा। तुम तो इतवार को व्रत रखते हो, आज कुछ खाओगे क्या ?

रसिक : देख लिया जनाब ! और सबको छूट', सारे नियम बस इस एक रसिकबाबा के लिए ! नही जी, 'बल बलं बाहुबल'। अब अनुरोध की बाट देखना बेकार है।

विपिन : (सिर्फ चार थालिया देखकर) आप हमारे साथ नही बैठेंगे ?

शैलवाला : नही, मैं परोसूंगा।

श्रीश : यह कैसे हो सकता है ?

शैलवाला : मुझे परोसने दीजिए, खाने की बजाय उसमे मुझे कही ज्यादा खुशी होगी।

श्रीश . रसिकबाबू, यह क्या ठीक है ?

रसिक : 'भिन्न रुचिर्हि लोक.', उन्हे परोसना पसन्द है हमे आहार करना —ऐसे रुचि-भेद से तो लगता है एक-दूसरे को कुछ सुविधा ही होती है।

(सब खाते है।)

शैलवाला : चन्द्रबाबू, वह तो मिठाई है, पहले वह न खायें, तरकारी इधर है। पानी का गिलास ढूंढ रहे हैं ? यह रहा गिलास।

(चन्द्रबाबू की पत्तल में आम था। वे उसे ठीक तरह से काबू में नहीं कर पा रहे थे—अनुतप्त शैल ने चट से उसे काटकर नामला आसान कर दिया। जब जिसकी जरूरत होती, हौले-हौले उनके हाथ के पास धरकर वह भोजन-कार्य में उनकी सहायता करने लगी।)

चन्द्रबाबू : श्रीशबाबू, स्त्रियो को सदस्य बनाने के बारे में आपने कुछ सोचा ?

श्रीश : अगर सोचा जाय, तो उसमे कोई खास आपत्ति नहीं है। मैं तो बस समाज की आपत्ति की बात सोचता हूँ।

विपिन - समाज को तो अक्सर बालक की तरह मानना चाहिए। अगर बालक की हरेक आपत्ति को मानकर चला जाय तो उसकी उन्नति नही होती। समाज के बारे मे भी यही बात लागू होती है।

श्रीश . मुझे तो लगता है, अपने देश मे सभा-समितियो के जो इतने आयोजन-अनुष्ठान असमय मे ही विफल हो जाते है इसका मुख्य कारण यही है कि उनमें स्त्रियो का कोई योग नही होता। क्यों रसिकबाबू ?

रसिक : परिस्थिति-विशेष के कारण यद्यपि स्त्री-जाति के साथ मेरा कोई

खास सम्बन्ध नही है, फिर भी मैं इतना जानता हूँ कि स्त्री जाति या तो योग देती है, या फिर बाधा देती है। या तो सृष्टि करती है, या फिर प्रलय। इसलिए उन्हे अपने दल मे शामिल कर लेने से और कोई सुविधा हो या न हो, कम-से-कम बाधा के चगुल से बचा जा सकता है। आप खुद ही सोच देखिए, अगर आप चिरकुमार सभा मे स्त्री जाति को स्वीकार कर लेते तो उनमें इस सभा को चुपके-चुपके मिटा डालने का उत्साह न रहता।—लेकिन वर्तमान परिस्थिति मे—

शैलबाला . कुमार-सभा के प्रति स्त्री जाति के क्रोध की खबर रसिकबाबा को कहाँ मिली ?

रसिक विपत्ति की खबर पाये बिना क्या सावधान नही होना चाहिए ? काने हिरण की जो आँख फूटी थी उसी तरफ से तो उसके तीर लगा था। —कुमार सभा अगर स्त्री जाति के प्रति कानी बनेगी तो फिर उसी तरफ़ से उसे अचानक चोट खानी पडेगी।

श्रीश : (विपिन के प्रति धीमे से) काने हरिण को एक तीर तो आज ही लग चुका है, एक सदस्य धराशायी हो गया।

चन्द्रबाबू सिर्फ पुरुषो के सहारे जो लोग समाज की भलाई करना चाहते है, वे एक पैर से चलना चाहते है। इसीलिए उन्हे थोडी दूर चलते ही बैठ जाना पडता है। हमने प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रयास से नारियो को दूर रखा है, इसीलिए हमारी देश-सेवा मे प्राणो का संचार नही होता। हमारे हृदय, हमारे कार्य, हमारी आशा घर और बाहर मे विभाजित हो गई है। यही कारण है कि हम बाहर आकर तो भाषण दे जाते है, पर घर पहुँचते ही उसे भूल जाते है। देखो अबलाकान्त बाबू, अभी तुम्हारी उम्र कम है, यह बात अच्छी तरह गाँठ बाँध लो,—स्त्री जाति की अवहेलना मत कर बैठना। स्त्री जाति को अगर हम नीचे रखेंगे तो फिर वे भी हमे नीचे की की ओर आकृष्ट करेंगी। और फिर उनके बोझ के मारे हमे उन्नति के पथ पर चलना कठिन हो जायगा—दो डग भरते ही लौटकर घर के कोने मे आकर बँधे रह जायँगे। अगर हम उन्हे ऊँचे पद पर रखेंगे तो फिर घर मे पहुँचकर अपने आदर्श से च्युत

होने पर हमे लज्जा आयगी। हमारे देश मे वाहर तो लज्जा है, पर घर के भीतर वह लज्जा नही, इसीलिए हमारी सारी उन्नति खाली वाहरी दिखावा वनकर रह जाती है।

शैलवाला आशीर्वाद दीजिए कि आपका उपदेश व्यर्थ न हो, मैं अपने-आपको आपके आदर्श के योग वना सकूं।

चन्द्रवावू : मेरी भानजी निर्मला को कुमार-सभा की सदस्य-मण्डली मे शामिल करने मे आपको कोई आपत्ति तो नही है?

रसिक : और तो कोई आपत्ति नही है, वस सिर्फ़ व्याकरण की आपत्ति है। कुमार-सभा में अगर कोई कुमारी वेश मे आये तो वोपदेव[1] अभिशाप दे वैठेगे।

शैलवाला : वोपदेव का अभिशाप आजकल नही लगता।

रसिक : अच्छी वात है, पर कम-से-कम मोहाराम[1] को तो वचाकर चलना पडेगा। मुझे तो लगता है, अगर स्त्री-सदस्य पुरुप-सदस्यो को वताए विना वश और नाम वदलकर आयें तो सहज ही निप्पत्ति हो जाय।

श्रीश तो फिर मजा यह होगा, कि कौन स्त्री है, कौन पुरुप, खुद हमे इसके वारे मे सन्देह वना रहेगा—

विपिन : मेरा खयाल है, मैं तो इस सन्देह से वरी हो सकता हूँ।

रसिक : मेरा खयाल है कि मुझे भी कोई अचानक मेरी नातनी समझने का भूल नही करेगा।

श्रीश : पर अवलाकान्त वावू के वारे मे सन्देह वना रहता है।

(शैल पास की तिपाई पर से मिठाई की थाली लाने चल देती है।)

चन्द्रवावू . देखिए रसिकवावू, भापा-शास्त्र मे देखा जाता है कि व्यवहार करते-करते किसी शव्द का मूल अर्थ तो लुप्त हो जाता है और विपरीत अर्थ घटने लग जाता है। स्त्री सदस्य स्वीकार करने पर अगर चिरकुमार सभा के अर्थ मे परिवर्तन हो जाय तो क्या हानि है?

रसिक . कुछ नही। मैं परिवर्तन का विरोधी नही हूँ—चाहे नाम-परिवर्तन हो, चाहे वेश-परिवर्तन हो। जव जो घटता है, उसे मैं विना विरोध

---

१. प्रसिद्ध वॅगला वैयाकरण

है जो तू मेरे गले में माया की डोर बाँध देती है। तेरी बड़ी कृपा है जो तू मेरा सूना हृदय चुरा लेती है।

हमे क्या ऐसा बुद्धू चोर समझा है ? तुम्हारे पास अब हृदय है ही कहाँ जो चोरी करने आयगी।

जरा पता लगाकर बताओ तो सही, यह अभागा हृदय है कितनी दूर।

मुझे मालूम है मुखर्जी बाबू। बताऊँ ? ४७५ मील।

सँझलीजीजी, तुमने तो अवाक् कर दिया। क्या तुम मुखर्जीबाबू के हृदय के पीछे-पीछे मील गिनती दौडी थी ?

नही भई, जीजी के काशी जाते समय मैने टाइम-टेबिल मे मील देख लिए थे।

गीत—२३

हृदय दौड़ा चला जा रहा है, शिराएँ और धमनियाँ जोर से चल रही हैं। हाय, उसे पकड़ने के लिए पीछे-पीछे रमणी छूटी जा रही है। वायु-वेग से चंचल वेणी खुली पड़ रही है, अंचल लहरा रहा है। विचित्र खेल है, व्याकुल अगों वाली कुरंगगामिनी दौड़ी चली जा रही है।

धन्य हो कविवर, धन्य हो। पर तुम्हारी कविता में किसी-किसी आधुनिक कवि की छाया दीख पडती है।

उसका कारण है कि मैं भी एकदम आधुनिक हूँ। तुम क्या सोचती हो, तुम्हारे मुखर्जीबाबू कृत्तिवास ओझा' के जुडवाँ भाई है। भू
के मील तो गिन लिये और इतिहास की तारीख
विदुषी साली से क्या लाभ हुआ ? इतने बड़े
तुम प्राचीन समझे बैठी हो ?
मुखर्जीबाबू, शिवजी जब विवाह-मडप में
सालियों ने भी ऐसी ही भूल की थी, लेकिन
तो कुछ और ही दिखाई । तुम्हें

न बँगला-कवि, जिनकी

तृतीय अंक

पहला दृश्य

अक्षय का घर

(अक्षय, नीर और नृप)

नीर का गीत

गीत—२१

जो लोग गए, उन्हें जाने दो, बस तुम मत चले जाना। मेरा बादल-गीत अभी पूरा नही हुआ। कुटीरो के द्वार बन्द हो चुके हैं। अँधेरी सुनसान रात है। व्याकुल उनींदी हवा से वन का अंचल काँप रहा है।

अक्षय : बात क्या है, बताओ तो ? मेरा कमरा जो अब तक सिर्फ झाड़ू-बँयरे की झाड़न की फटकार से निर्मल रहता था, उसकी हवा अब सुबह-शाम तुम दोनो बहनो के अंचल रूपी पखो से क्यो चंचल होने लगी है ?

नीरबाला हम तो यह सोचकर कि आजकल जीजी नही है, तुम अकेले पड़े होगे, तुम पर कृपा करके बीच-बीच मे दर्शन दे जाती हैं, ऊपर से उल्टे हमीसे जवाबदेही !

अक्षय : कृपामयी चोर, सूना हृदय चुराने के लिए सूने कमरे में ताक-झाँक ? मैं क्या नीयत नही पहचानता।

गीत—२२

अरी कृपामयी चोर, तेरे मन में कितनी कृपा है ! तेरी बड़ी कृपा

है जो तू मेरे गले में माया की डोर बाँध देती है। तेरी बड़ी कृपा है जो तू मेरा सूना हृदय चुरा लेती है।

नीरबाला : हमे क्या ऐसा बुद्धू चोर समझा है ? तुम्हारे पास अब हृदय है ही कहाँ जो चोरी करने आयगी।

अक्षय : जरा पता लगाकर बताओ तो सही, यह अभागा हृदय है कितनी दूर।

नृपबाला , मुझे मालूम है मुखर्जी बाबू। बताऊँ ? ४७५ मील।

नीरबाला · सँझलीजीजी, तुमने तो अवाक् कर दिया। क्या तुम मुखर्जीबाबू के हृदय के पीछे-पीछे मील गिनती दौडी थी ?

नृपबाला : नही भई, जीजी के काशी जाते समय मैने टाइम-टेबिल मे मील देख लिए थे।

गीत—२३

हृदय दौड़ा चला जा रहा है, शिराएँ और धमनियाँ जोर से चल रही हैं। हाय, उसे पकड़ने के लिए पीछे-पीछे रमणी छूटी जा रही है। वायु-वेग से चंचल वेणी खुली पड़ रही है, अंचल लहरा रहा है। विचित्र खेल है, व्याकुल अगों वाली कुरंगगामिनी दौड़ी चली जा रही है।

नीरबाला धन्य हो कविवर, धन्य हो। पर तुम्हारी कविता मे किसी-किसी आधुनिक कवि की छाया दीख पडती है।

अक्षय : उसका कारण है कि मैं भी एकदम आधुनिक हूँ। तुम क्या सोचती हो, तुम्हारे मुखर्जीबाबू कृत्तिवास ओझा[1] के जुड़वाँ भाई है। भूगोल के मील तो गिन लिये और इतिहास की तारीख भूल गई ? तो फिर विदुषी साली से क्या लाभ हुआ ? इतने बडे आधुनिक व्यक्ति को तुम प्राचीन समझे बैठी हो ?

नीरबाला मुखर्जीबाबू, शिवजी जब विवाह-मडप मे गए थे तब उनकी सालियों ने भी ऐसी ही भूल की थी, लेकिन पार्वती की आँखो को तो कुछ और ही दिखाई पडा था। तुम्हे किस बात की चिन्ता है ?

१. मध्ययुगीन बँगला-कवि, जिनकी बँगला रामायण विख्यात है।

जीजी तो तुम्हे आधुनिक ही समझती है।

अक्षय मूर्खे, शिवजी के अगर कोई साली होती तो उनका ध्यान-भंग करने के लिए क्या कामदेव की जरूरत पड़ती ? कहाँ वे और कहाँ मैं ?

नीरवाला : अच्छा मुखर्जीबाबू, इतनी देर मे यहाँ बैठे-बैठे तुम कर क्या रहे थे ?

अक्षय : तुम्हारी गोशाला के दूध का हिसाब लिख रहा था।

नीरवाला : (मेज पर से अधूरी चिट्ठी उठाकर) यही है तुम्हारा गोशाला का हिसाब ? हिसाब मे तो मक्खन का ही अश ज्यादा है।

अक्षय . (हड़बड़ाकर) अरे-अरे, इसके साथ ऊधम मत करो, ऊँ-हूँ, दे, दे न—

नीरवाला : नीरु बहन, तग मत कर, चिट्ठी लौटा दे उन्हे। इस मामले मे साली का ऊधम बर्दाश्त नही होता। लेकिन मुखर्जीबाबू, तुम चिट्ठी मे जीजी को क्या कहकर सबोधन करते हो, जरा बताओ न !

अक्षय नित नए सबोधन लिखता हूँ।

नृपवाला आज क्या लिखा है, बताना।

अक्षय सुनोगी ? तो फिर सुनो सखी। चचल-चकित-चित्त-चकोर-चोर-चचु-चुम्बित-चारु-चन्द्रिक-रुचि-रुचिर चिर-चद्रमा।

नीरवाला : बड़ी चमत्कारपूर्ण चापलूसी है।

अक्षय . किसी की चोरी थोड़े ही है। चर्वित-चर्वण से एकदम शून्य है।

नपवाला : (आश्चर्य से) अच्छा मुखर्जीबाबू, तुम क्या रोज इसी तरह लम्बे लम्बे संबोधन गढते हो ? शायद तभी जीजी को चिट्ठी लिखने मे इतना समय लगता है।

अक्षय . यही तो बात है कि नृप के सामने मेरी झूठ नही चल पाती। भगवान् ने मुझे तुरन्त गढ़कर कहने की जो असाधारण क्षमता दी है उसे यह तनिक भी नही चलने देती। बहनोई की बात को वेद-वाक्य मानकर विश्वास करना चाहिए यह किस मनुसहिता मे लिखा है, जरा बताना।

नारवाला : शात मुखर्जीबाबू, शात। गुस्सा मत करो। सँझली जीजी की बात छोड़ो। पर सोचो तो, मैं तो तुम्हारी आधी बात का भी रत्ती-भर

विश्वास नही करती, फिर भी तुम्हे सांत्वना नही मिलती ? ?

नृपबाला : मुखर्जीबाबू सच-सच बताना, क्या कभी तुमने जीजी पर कोई कविता लिखी है ?

अक्षय : अब की बार जब वे बहुत नाराज हो गई थी, तब मैंने उनकी स्तुति मे एक गीत लिखकर गाया था—

नृपबाला : फिर ?

अक्षय . फिर देखा कि उसका फल तो उल्टा निकला, हवा पाकर जिस तरह आग बढ जाती है, ठीक वही हाल हुआ—तब से मैंने स्तुति-रचना ही छोड दी।

नृपबाला : और स्तुति-रचना छोड़कर अब सिर्फ़ गोशाला का हिसाब लिखते हो। कौन-सी स्तुति लिखी थी मुकर्जीबाबू, हमे सुनाओ न !

अक्षय . हिम्मत नही होती, पीछे कही मेरे ऊपर वाले से रिपोर्ट कर दो।

नृपबाला : नही, नही, हम जीजी से नही कहेगे।

अक्षय : तो फिर सुनो

गीत

मनोमंदर सुंदरी ।
स्खलदंचला चलचंचला
अयि मंजुला मंजरी ।
रोषारुणरागरंजिता ।
गोपनहास्य कुटिल आस्य
कपट कलह गंजिता ।
संकोचनत-अंगिनी ।
चकित चपल नवकुरंग
यौवन-नव-रंगिनी ।
अयि खल, छलगुंठिता ।
लुब्ध-पवन क्षुब्ध लोभन
मल्लिका अवलुंठिता।
चुंबन-धन-वंचिनी
रुद्ध-कोरक संचित-मधु
कठिन कनक कंजिनी ।

लेकिन बस, अब और नही। अब हुजूर विदा हों।

नीरवाला : क्यो, भला इतना अपमान क्यो ? जीजी की डाँट खाकर हम लोगो पर शायद उसीकी खीझ उतार रहे हो ?

अक्षय : लगता है ये लोग अंत:पुर को पवित्र नही रखने देंगी। अरी दुर्वृत्ते, लोग-बाग आने ही वाले हैं।

नृपवाला : यो कहो न कि जीजी की चिट्ठी पूरी करनी है।

नीरवाला : तो, हम मौजूद रहे तो भी क्या, तुम चिट्ठी लिखो न, हम क्या तुम्हारी कलम की नोक से तुम्हारे शब्द छीन लेंगी।

अक्षय : तुम जब पास होती हो तो मन यही भर जाता है, जो दूर पर बैठी हैं उन तक नही पहुँच पाता। अच्छा, हँसी छोड़ो, भागो। अभी लोग-बाग आ जायेंगे—इस एक के अलावा और कोई दरवाजा तो खुला है नही। उस वक्त भागने का रास्ता भी नही मिलेगा।

नृपवाला : अब शाम के समय तुम्हारे पास कौन आयेगा ?

अक्षय : वे नही जी, वे नही, जिनका तुम ध्यान कर रही हो।

नीरवाला : जिनका ध्यान किया जाता है वे हर समय नही आते, यह बात आजकल तुम खूब अच्छी तरह समझ गए हो, है न मुखर्जीबाबू ! ध्यान तो करते हो देवता का और उपदेवता आकर उपद्रव करने लगते हैं।

गीत—२४ (अ)

ओ मेरे चिन्तन-धन ! हर्ष और क्रन्दन तुम्हें मेरे हृदय मे झूला झुलाते रहते हैं। नव वसन्त आता है, बकुल खिलने लगता है, कुंजों में पूर्णिमा का चाँद अधीर होकर हँसने लगता है, पर वे भी तुम्हें नहीं खोज पाते। तुम तो स्वप्न की भाँति मेरे प्राणों में छुपे हुए हो।

अक्षय : कहाँ से उडाया यह गीत।

नीरवाला : तुम्हारे ही श्रीमुख से।

अक्षय : और अब आखिर मे विरह के दिन मेरे ही श्रीवक्ष पर मारने आई हो। अच्छी बात है, तो फिर रहम मत करो। पूरा कर डालो।

गीत—२४ (आ)

आँसुओं में डुबोकर तुम आँखों को यों वंचित क्यों करते हो। गंध

आती है, पर माला नहीं दिखती, पैरों की आहट सुनाई पड़ती है, पर पथ सूना है। वेला बीती जा रही है, फूल सूखते जा रहे हैं, मेरा संसार अनाथ हो चला है।

नेपथ्य मे : अवलाकांत बाबू है ?

(अचानक श्रीश का प्रवेश। 'माफ कीजिए' कहकर जाने लगता है। नृप और नीर का तेजी से प्रस्थान।)

अक्षय : आइए, आइए, श्रीशबाबू।

श्रीश : (शरमाते हुए) माफ कीजिएगा।

अक्षय : तैयार हूं। पर पहले यह तो बताइए, अपराध क्या है ?

श्रीश : खबर किये बिना ही—

अक्षय : तुम्हारे स्वागत के लिए म्युनिसिपैलिटी से बजट तो सैक्शन कराना नही पड़ता। फिर खबर किये बिना आने मे ही क्या हर्ज है श्रीशबाबू।

श्रीश : अगर आप कहते हैं कि यहाँ असमय आकर मैंने अनधिकार प्रवेश नही किया, तो बस ठीक है।

अक्षय : यही तो कह रहा हूँ। तुम जब आओ तभी सुसमय है, और जहाँ पदार्पण करो वही तुम्हारा अधिकार है। श्रीशबाबू, खुद विधाता ने तुम्हे सब जगह का पासपोर्ट दे रखा है। जरा बैठो, अवलाकांत बाबू को खबर कर दूं। (स्वगत) यहाँ से भागे बिना चिट्ठी खत्म नही कर पाऊँगा।

(प्रस्थान)

श्रीश : आँखो के सामने से मायाविनी स्वर्णमृगियो की एक जोडी दौड़ती हुई चली गई ! हाय रे निहत्थे अहेरी, तुझमे पीछा करने की भी क्षमता नही। दृष्टिपथ पर चकित नयनो की चितवन इस तरह अंकित रह गई है जैसे कसौटी पर सोने की रेखा।

(रसिक का प्रवेश)

श्रीश . शाम के वक्त आकर मैंने आप लोगो को परेशान तो नही किया रसिकबाबू ?

रसिक : भिक्षुकक्षे विनिक्षिप्त किमिक्षुर्नीरसो भवेत् ? श्रीशबाबू, मैं क्या इतना बडा अभागा हूँ कि आपको देखकर परेशान होऊँगा ?

श्रीश : अवलाकांत वाबू घर में तो है ?

रसिक : हैं क्यों नही। आते ही होगे।

श्रीश : नही, नही, अगर काम मे लगे हो तो उन्हे तकलीफ देने की जरूरत नही—मैं तो फालतू आदमी हूँ, वेकारो की खोज मे भटकता रहता हूँ।

रसिक : ससार मे वडे लोग ही फालतू होते हैं और वेकार लोग ही धन्य। दोनो का मेल हो जाय तो मणिकाचन योग समझिए। फालतू और वेकार लोगो के मिलने के लिए ही तो शाम के समय की रचना हुई है। योगियो के लिए प्रात.काल, रोगियो के लिए रात, कामकाजी लोगो के लिए १० से ४ तक का समय। और शाम का वक्त ? सच कहता हूँ, ब्रह्मा ने चिरकुमार सभा की बैठक के लिए नही वनाया है। क्यो श्रीशवावू ?

श्रीश : यह तो मानना ही होगा कि शाम की रचना चिरकुमार सभा के वहुत पहले ही हो गई थी। वह हमारे सभापति चद्रवावू का नियम नही मानती—

रसिक : वह जिस चंद्र का नियम मानती है उसका नियम ही अलग है। आपसे खुलासा कहता हूँ, हँसिए मत श्रीशवावू, एक तल्ले के मेरे कमरे मे एक जँगले से थोड़ी-सी चाँदनी आया करती है—शुक्ल पक्ष की सध्या मे जव उस चाँदनी की धवल रेखा मेरे वक्ष पर आ पड़ती है तव ऐसा लगता है मानो कोई मुझे कुछ संवाद भेज रहा हो। मानो कोई धवल हसदूत किसी विरहिणी की ओर से इस चिर-विरही के कानो मे कह रहा हो—

अलिन्दे कालिन्दीकमलसुरभौ कुञ्जवसतेर्-
वसन्तीं वासन्तीनवपरिमलोद्गारचिकुरां।
त्वदुत्सङ्गे लीनां मदमुकुलिताक्षी पुनरिमां
कदाहं सेविष्ये किसलयकलापव्यजनिनीम् ॥

श्रीश : वाह वाह, रसिकवावू, कमाल है। लेकिन इसके माने वताने पड़ेगे. छद मे से उसके रस की गध तो मिल रही है, पर अनुस्वार-विसर्गो से उसे कसकर वन्द कर दिया गया है।

रसिक : मैंने इसका एक अनुवाद भी किया है—कही संपादक खवर पाकर

पीछे न लग जायँ इसीलिए छिपाकर रख छोड़ा है—सुनेंगे श्रीश-बाबू ?

कालिन्दी कमलों से सुरभित
कुंज-कुटी के प्रांगण में नित
अंक तले जब होगी लीना
वह मदिराक्षी, परिमल भीना
मलय पवन का बस जायेगा
अलकों में. हा कब आयेगा
वह दिन जब निज पंख डुलाकर
सेवा कर पाऊँगा जी भर

श्रीश : वाह वाह, रसिकवाबू ! आपमे इतना रस है यह तो पता ही न था।

रसिक पता होता भी कैसे ! काव्य-लक्ष्मी कभी-कभी अपने पद्मवन से मेरी इस गजी खोपड़ी पर हवा खाने जाती है इसका तो किसी को सदेह भी नही होता। (हाथ फेरते हुए) लेकिन ऐसी खुली जगह दूसरी नही।

श्रीश अहा-हा रसिकवावू, मेरे मन मे यमुना-किनारे का वह स्निग्ध अलिंद वाला कुज कुटीर वडे जोर से वस गया है। अगर कभी। 'पायोनियर' मे विज्ञापन निकले कि वह कर्ज़ की वजह से नीलाम होने वाला है तो मैं खरीद डालूँ।

रसिक : क्या कह रहे है श्रीशवावू। खाली अलिंद कोलेकर क्या कीजिएगा। जरा उस मदमुकुलिताक्षी की बात भी तो सोचकर देखिए। उसे नीलाम मे पाना मुश्किल है।

श्रीश : यह रूमाल किसका पडा है यहाँ ?

रसिक देखूँ, देखूँ। सचमुच ! देखता हूँ, आपके हाथ दुर्लभ चीज लगती है। वाह, कैसी वढिया गध है। श्लोक की लाइन वदलनी पड़ेगी जनाब, छद-भग होता हो तो हो—'वासतीनवपरिमलोद्‌गार-रूमाला' श्रीशवावू, इस रूमाल से अपनी कुमार-सभा की पताका नही वनाई जा सकती। देखिए न, कोने मे एक छोटा-सा अक्षर लिखा है 'न'।

श्रीश : क्या नाम हो सकता है, बताइए तो सही। नलिनी ? नहीं बड़ा घिसा हुआ नाम है। नीलाम्बुजा ? बहुत भारी है। नीहारिका ? बड़ी अतिशयोक्ति है। बताइए न रसिकबाबू, आपके मन मे क्या आता है।

रसिक : मेरे मन मे नाम नही आता जनाब, मेरे मन मे भाव आ रहे है। शब्दकोप मे 'न' से शुरू होने वाले जितने शब्द हैं सब ढेर-के-ढेर मेरे मस्तिष्क मे जमा होते जा रहे हैं, मन हो रहा है कि 'न' की माला गूँथकर किसी नीलोत्पलनयना के गले मे पहना दूं—निर्मलनवनीर्निदितनवीन—बोलिए न श्रीशबाबू, पूरा कीजिए न—

श्रीश : नवमल्लिका।

रसिक : वाह वाह, निर्मलनवनीर्निदितनवीननवमल्लिका। 'गीतगोविंद' मात हो गया। अभी बहुत-से अच्छे-अच्छे 'न मेरे मस्तिष्क में हा-हा खाते चक्कर काट रहे हैं, मैं उनका मेल नही बिठा पा रहा हूँ—निभृत निकुजनिलय, निपुणनूपुरनिक्वण, निविड़ नीरद-निर्मुक्त—अक्षय भैया होते तो चिन्ता न करनी पड़ती। जिस तरह मास्टर साहब को देखते ही लडके बेंच पर अपनी-अपनी जगह पर लाइन बाँधकर बैठ जाते हैं, उसी तरह अक्षय भैया की आहट पाते ही शब्दों के समूह दौडकर उपस्थित हो जाते है। श्रीश बाबू, बूढे आदमी को चकमा देकर रूमाल चुपचाप पाकिट मे मत भरिए—

श्रीश : आविष्कार करने वाले का अधिकार सबसे बढ़कर होता है—

रसिक : मुझे जरा इस रूमाल की जरूरत है श्रीशबाबू। आपको तो बता ही चुका हूँ, मेरे सूने कमरे में जो एक जंगला है उससे बस जरा-सी चाँदनी आती है—एक कविता याद आ रही है—

वीथीषु वीथीषु विलासिनीनां
मुखानि संवीक्ष्य शुचिस्मितानि।
जालेषु जालेषु करं प्रसार्य
लावण्यभिक्षामटतीव चंद्रः।
कुंज-कुंज में झाँक रहा है,
संध-संध से हाथ संवढ़ाकर

हँसती प्रमदाओ से चन्दा
भीख रूप की माँग रहा है।

अभागा भिखारी जब मेरी खिडकी पर आता है तब उसे क्या देकर बहलाऊँ, बोलिए। काव्य-शास्त्र के जितने भी सरस प्रसग याद आते हैं सबको दोहरा जाता हूँ लेकिन बातो से कही भूख बुझती है। ऐसे अकाल के समय यह रूमाल बड़े काम आयगा। इसमें लावण्य का काफी ससर्ग है।

श्रीश . उस लावण्य को देखने का भी कभी सयोग हुआ है रसिकबाबू ?

रसिक · क्यो नही हुआ है ! वरना इस रूमाल के लिए क्या इतना झगड़ा करता। और इस 'न' अक्षर की जो बातें मेरे मस्तिष्क मे अब भी भौरो की टोली की तरह गूँजती फिर रही है उनके सामने क्या किसी कमलवन विहारिणी मानसी की मूर्ति नही है।

श्रीश : रसिकबाबू, आपका दिमाग तो सचमुच शहद का छत्ता है। उसके खाने-खाने मे काव्य का मधु है। लगता है मुझे भी पागल बना देंगे।

(दीर्घ निश्वास लेता है।)
(पुरुष के वेश मे शैलबाला का प्रवेश)

शैलबाला : मुझे आने मे बडी देर हो गई, माफ करे श्रीबाबू।

श्रीश : मुझे भी माफ करें अबलाकात बाबू, कि शाम के समय ऊधम मचाने आ गया हूँ।

शैलबाला : अगर रोज शाम को इसी तरह ऊधम मचायें तो माफ कर सकता हूँ, वर्ना नही।

श्रीश · अच्छी बात है, मैं तैयार हूँ। लेकिन बाद मे जब आपको पछताना पड़े तो अपना वचन याद रखिएगा।

शैलबाला · मेरी फिक्र न करे, लेकिन अगर आपको पछताना पड़ा तो आपको छुटकारा दे दूँगा।

श्रीश · अगर आप इसी भरोसे रहे तब तो आपको अनंत काल तक प्रतीक्षा करनी पडेगी।

शैलबाला · रसिकबाबा, तुम श्रीश बाबू की पाकिट की तरफ हाथ क्यो बढ़ा रहे हो ? बुढापे मे क्या जेब काटने का धधा शुरू करने वाले हो।

रसिक : नही भई, यह धधा तो तुम्हारी उम्र मे ही शोभा देता है। एक

रूमाल को लेकर मुझमे और श्रीशबाबू मे तकरार चल रही है। तुम्हे इसका फैसला करना पड़ेगा।

शैलबाला : सो क्या ?

रसिक : प्रेम के बाजार में आढत करने लायक पूंजी मेरे पास नही है—मै तो फुटकर माल का कार-बार करता हूँ—रूमाल, चुटीला, फटे कागज पर किसी के हाथ के दो-चार अक्षर, इसी तरह की चीजो को बीन-बटोरकर मुझे सतोष करना पडता है। पर श्रीशबाबू के पास जितनी पूंजी है उससे तो वे सारा बाजार-का-बाजार थोक दर पर खरीद सकते है—एक रूमाल ही क्यो, पूरे नीलाचल का आधा भाग बँटा सकते है; हम जहाँ चुटीले से गले मे फंदा डालकर मरने की सोचते रहते है, वहाँ वे लम्बी जुल्फो वाले केशो के भीने अंधकार मे पूरी तरह डूब सकते है। फिर वे जूठन खाने क्यो आते है ?

श्रीश : अबलाकांत बाबू, आप तो तटस्थ व्यक्ति है, रूमाल अभी अपने पास ही रहने दीजिए, दोनो पक्षो का बयान सुनने के बाद न्याय से उस पर जिसका अधिकार हो उसीको दे दें।

शैलबाला . (रूमाल जेब में रखते हुए) मुझे शायद आप तटस्थ व्यक्ति समझते है ? इस कोने मे जिस तरह लाल धागे से 'न' का अक्षर सिला हुआ है, अगर आप मेरा हृदय खोजें तो आप पायँगे कि उसके एक कोने मे भी रक्त से यही अक्षर लिखा हुआ है। यह रूमाल मैं अब किसी को नही दूंगा।

श्रीश : रसिकबाबू, यह कैसी जबरदस्ती है। और फिर 'न' अक्षर तो बड़ा ही भयानक अक्षर है।

रसिक . सुनता हूँ विलायती शास्त्र के अनुसार न्याय भी अंधाहोता है और प्रेम भी अधा होता है। तो फिर दोनो अधो मे लडाई होने दो। जिसमे ज्यादा बल होगा उसीकी जीत होगी।

शैलबाला : श्रीशबाबू, जिसका यह रूमाल है उसे तो आपने कभी देखा ही नही। फिर खाली कल्पना के बल पर झगड़ा क्यों कर रहे है ?

श्रीश : कौन कहता है, नही देखा।

शैलबाला : देखा है ? किसको देखा है ? 'न' तो दो है—

श्रीश : दोनो को ही देखा है—और यह रूमाल उन दोनो मे से चाहे जिसका हो, मैं अपना दावा नही छोड़ सकता।

रसिक : श्रीशबाबू, इस बुड्ढे की बात मानिए, हृदय-गगन में दो-दो चद्रो का आयोजन मत कीजिए 'एकश्चद्रस्तमोहंति'।

(नौकर का प्रवेश)

नौकर : (श्रीश से) चद्रबाबू की चिट्ठी लेकर एक आदमी आपका घर खोजते-खोजते यहाँ आ पहुँचा है।

श्रीश · (चिट्ठी पढ़कर) थोड़ी देर इतजार करेंगे? चद्रबाबू का घर तो पास ही है—मैं झट-से एक बार उनसे मिल आऊँ।

शैलबाला : खिसक तो न जायँगे?

श्रीश . नही नही, मेरा रूमाल बधक रहा, उसे छुड़ाए बिना नही जाने का।

(प्रस्थान)

रसिक : भई शैल, कुमार-सभा के सदस्यो को मैंने जितना भीषण कुमार समझा था, सो कुछ नही। इनकी तपस्या भग करने के लिए मेनका, रभा, मदन, वसत किसी की जरूरत नही, यह बूढा रसिक ही कर लेगा।

शैलबाला दीखता तो यही है।

रसिक : असली बात क्या है, जानती हो? जो लोग दार्जिलिग मे रहते है, मलेरिया की जगह में पैर रखते ही उन्हे रोग धर दबाता है। ये लोग अब तक चद्रबाबू के घर बडी नीरोग जगह मे थे, और यह घर है रोग के कीटाणुओ से भरा। यहाँ ये रूमाल, किताब, कुर्सी मेज़ जिस किसी भी चीज का स्पर्श करते है वही से रोग यकायक आँख-नाक-मुँह मे घुसने लगता है—उफ, श्रीशबाबू तो मिट गए।

शैलबाला : रसिकबाबा, तुम्हे शायद रोग के कीटाणुओ की आदत पड़ गई है।

रसिक : मेरी बात जाने दो। मुझे प्लीहा, तिल्ली जो कुछ होना था सब हो लिया है।

(नीरबाला का प्रवेश)

नीरबाला · जीजी, हम बगल के ही कमरे मे थी।

रसिक : मछुए तो जाल खीचते-खीचते मरे जा रहे है, और चील बैठी है

झपट्टा मारने।

नीरबाला : सँझली जीजी के रूमाल के लिए श्रीशबाबू ने तो आफत ही मचा दी। सँझली जीजी तो मारे शर्म के लाल होकर भाग गई। मैं ही बुद्धू हूँ, भूल से भी यहाँ कुछ नही छोड गई। अब बारह रूमाल लाई हूँ, सोचती हूँ कमरे मे रूमालों की बौछार कर जाऊँ।

शैलबाला : तेरे हाथ मे यह कापी कैसी है नीरू ?

नीरबाला : इसमे अपनी पसद के गाने लिखती हूँ जीजी।

रसिक : छोटी जीजी, आजकल तुझे किस तरह के भजन पसंद है उनका एकाध नमूना देख सकता हूँ क्या ?

नीरबाला : **'दिन गेल रे, डाक दिये ने पारेर खेया ,**
चुकिये हिसेब मिटिये दे तोर देया नेया।'
(दिन बीत रहा है, पार के खिवैया को टेर ले। जो कुछ लेन-देन बचा हो, चुकाकर हिसाब खत्म कर ले।)

रसिक : जीजी तो बड़ी परेशान है। पार उतारने वाले खिवैया को बुलाए देता हूँ भई। जो लेना-देना हो, मुकाबिले पर तय कर लेना।

गीत—२५

नीरबाला . **अँधेरे में रोशनी नहीं जली, क्या तुम इसीलिए बार-बार मेरी पुकार का उत्तर नहीं देते? तुम्हारी वंशी कठिन दुःख में, गंभीर सुख में, मेरे प्राणों में बराबर बजती रहती है। जो पथ नहीं जानता, उसे तुम क्यों रुला रहे हो ! मै रात-रात भर आकाश की ओर टकटकी लगाए रहती हूँ, न जाने यह मन क्या चाहता है। अकारण ही मन में यह आशा क्यों जगती है कि मेरी व्यथा तुम्हें खींचकर मेरे द्वार ले आयगी ?**

(विपिन कमरे में प्रवेश करके चौककर खडा रह जाता है। नीरबाला पल-भर हतबुद्धि होकर तेजी से बाहर निकल जाती है।)

नेपथ्य से : अवलाकात बाबू है ?

शैलबाला : आइए विपिनबाबू !

विपिन : ठीक-ठीक बताइए क्या सचमुच आ जाऊँ। मेरे आने से आपका कोई नुकसान तो नही।

रसिक : गाँठ से थोडा-बहुत नुकसान दिये बिना फायदा नही होता विपिन-बाबू, व्यापार का यही नियम है। जो गया वह फिर दुगुना होकर वापस आ सकता है, क्यो अवलाकांत बाबू !

शैलबाला : रसिकबाबा का मजाक आजकल कुछ कडा हो गया है।

रसिक : जैसे गुड जमकर कडा हो जाता है। कहिए विपिनबाबू, क्या सोच रहे है ?

विपिन : सोच रहा हूँ, किस बहाने से विदा लूँ कि मुझे विदा देते मे आप लोगो की शालीनता बाधक न हो।

शैलबाला : और अगर मैत्री बाधक हो तो ?

विपिन : तब तो बहाना खोजने की जरूरत ही नही ।

शैलबाला : तो फिर खोज छोड दीजिए, आराम से बैठिए।

रसिक : जरा चेहरे पर हँसी लाइए, विपिनबाबू ! मुझसे ईर्ष्या मत कीजिए। मै तो बुड्ढा हूँ, युवको की ईर्ष्या के योग्य हूँ ही नही, और हमारे सुकुमार-मूर्ति अवलाकात बाबू को तो कोई स्त्री पुरुष ही नही मानती। अगर आपको देखकर कोई सुन्दरी किशोरी व्याकुल हरिणी की तरह भाग गई हो तो यही सोचकर मन को सांत्वना दीजिए कि उन्होने आपको पुरुष मानकर आपकी खूब खातिर की है। हाय रे अभागे रसिक, तुझे देखकर तो कोई तरुणी शरमाकर नही भागती !

विपिन : रसिकबाबू आपको भी अपने दल मे घसीटे ले रहे है, अवलाकात बाबू ! यह कैसी बात है ?

शैलबाला : क्या कहूँ विपिन बाबू—मेरा तो यह अवलाकांत नाम ही झूठा है—अभी तक तो किसी अबला ने मुझे कात मानकर वरण किया नही।

विपिन : हताश न हो, अब भी समय है।

शैलबाला : अगर यही आशा होती और सचमुच समय होता, तो फिर भला मैं चिरकुमार सभा मे नाम लिखाने क्यो चलता ?

विपिन : (स्वगत) इनके मन मे जरूर कोई-न-कोई दु:ख है, नही तो इतनी कम उम्र मे इस भोले चेहरे पर ऐसी स्निग्ध कोमल करुणा न होती। अरे, यह कापी कैसी है। देखता हूँ, गीत लिखे है। 'नीर-

रसिक : तब तो बड़ी खराब हालत है।

(नीरबाला का क्रोध में प्रस्थान)

(नृपबाला का शरमाते हुए प्रवेश)

रसिक : क्या है नृप, खोया हुआ माल ढूँढ़ रही है ?

नृपबाला : नही तो, मेरी तो कोई चीज नही खोई।

रसिक : यह तो बडे हर्ष का समाचार है। शैलजीजी, तो अब देर क्यो, जब रूमाल का मालिक ही नही मिल रहा है तो फिर जिसे पड़ा मिला है उसीको लौटा दो। (शैल के हाथ से रूमाल लेकर) यह किसका है भई ?

नृपबाला : मेरा नही है।

(जाने लगती है।)

रसिक . (नृप को पकड़कर) जो चीज़ खो गई हैं नृप, तू क्या उस पर कोई दावा भी नही रखना चाहती ?

नृपबाला : छोड़ो रसिकबाबा, मुझे काम है।

दूसरा दृश्य

गोल सरोवर का रास्ता

(श्रीश और विपिन)

श्रीश . भई विपिन, आज माघ से अंत मे वसंत की पहली हवा चली है, चाँदनी भी गज़ब की है। आज अगर अभी से सोने या पाठ रटने जायँ तो देवता धिक्कारेंगे।

विपिन : उनका धिक्कार तो आसानी से सहा जा सकता है, पर बीमारी का धक्का या—

श्रीश : देखो, इसी बात पर मेरा तुमसे झगड़ा हो जाता है। अच्छी तरह जानता हूँ, दक्खिनी हवा से तुम्हारे प्राण भी चंचल हो उठते हैं, लेकिन बाद मे कही कोई तुम पर कवित्व का लांछन न लगा बैठे

इसीलिए तुम मलय समीरण पर ध्यान ही नही देना चाहते। मैं पूछता हूँ, इसमे क्या बहादुरी है ? मैं तो तुम्हारे सामने आज मुक्त-कठ से स्वीकार करता हूँ, मुझे फूल अच्छे लगते है, चाँदनी अच्छी लगती है—

विपिन : और—

श्रीश : और जितनी भी अच्छी लगने वाली चीज़ें है सब अच्छी लगती हैं।

विपिन : लगता है, विधाता ने तुमको बड़े कमाल के साँचे मे ढाला है।

श्रीश : तुम्हारा साँचा तो और भी कमाल का है। तुम्हे लगता तो है अच्छा, लेकिन कहते हो कुछ और—ठीक मेरे सोने के कमरे की घड़ी की तरह—वह चलती तो है ठीक, लेकिन घंटे गलत बजाती है।

विपिन : लेकिन श्रीश, अगर तुम्हे सारी मनोरम चीज़े मनोहर लगने लगी है तब तो आफत आने वाली है।

श्रीश : मुझे तो कोई आफत नही दिखाई पड़ती।

विपिन : यही तो सबसे बुरा लक्षण है। जब रोग की तकलीफ का पता चलना बंद हो जाय तब फिर इलाज का रास्ता नही बचता। मैं तो भई, साफ-साफ कबूल करता हूँ, स्त्री जाति मे एक आकर्षण है—चिरकुमार सभा अगर उस आकर्षण से बचना चाहती है तो उसे उससे दूर रहकर चलना पड़ेगा।

श्रीश : गलत गलत, एकदम गलत। तुम्हारे दूर रहने से क्या होगा, वे ता दूर नही रहती। ससार के सरक्षण के लिए विधाता को इतनी अधिक नारियो की सृष्टि करनी पड़ी है कि उनसे बचकर चलना असभव है। इसलिए अगर कौमार्य व्रत बचाना चाहते हो तो फिर धीरे-धीरे नारी जाति को सहने की आदत डालनी पडेगी। यह जो स्त्री-सदस्या बनाने का नियम बना है, इतने दिनो बाद कुमार-सभा को चिरस्थायी बनाने का सही उपाय ग्रहण किया गया है। लेकिन सिर्फ एक ही महिला से काम नही चलेगा विपिन, बहुत-सी सदस्याएँ चाहिएँ, बद कमरे मे एक खिड़की खोल देने से ठड के मारे सर्दी हो जाती है, पर खुली हवा मे रहने पर इसकी कोई आशंका नही रहती।

विपिन . मैं भैया, तुम्हारी यह खुली-हवा बद-हवा नही समझता। जिसकी

धात ही सर्दी की हो उसे सर्दी से न देवता बचा सकते हैं, न मनुष्य।

श्रीश · तुम्हारी धात क्या कहती है जी ?

विपिन : यह बात साफ-साफ बताते ही तुम समझ जाओगे कि तुम्हारी धात मे और मेरी धात में गजब का मेल है। मेरी नाड़ी हमेशा चिर-कुमार सभा की नाड़ी की तरह चलती है, मैं ऐसी डीग नही मार सकता।

श्रीश : यह तुम्हारी दूसरी भूल है। चिरकुमार की नाड़ी पर उन्चास पवन का नृत्य होने दो—डरने की क्या बात है। बाँधने-बूँधने या ढँकने-ढँकाने की कोई ज़रूरत नहीं। जिन्होने हमारी तरह का व्रत लिया हो, वे क्या अपने हृदय को रुई मे लपेटे रह सकते है। उसे तो अश्व-मेध यज्ञ के घोडे की तरह छोड़ दो, जो उसे बाँधे उसीसे जूझ पडो।

विपिन : अरे, यह कौन है ? पूर्ण लगता है। इस बेचारे के लिए इस गली से बाहर निकलने का अब कोई उपाय नही। इस वीर का अश्वमेध का घोड़ा बुरी तरह लँगडा रहा है। इसे एक बार पुकारूँ क्या ?

श्रीश : पुकारो ! लेकिन वह हमीको गली-गली ढूँढ़ता फिर रहा है ऐसा तो नही लगता।

(पूर्ण का प्रवेश)

विपिन . पूर्णबाबू, क्या समाचार हैं ?

पूर्ण : वही पुराने समाचार हैं। जो कल-परसो थे वे ही आज भी है।

श्रीश : कल-परसो जाड़े की हवा चल रही थी, आज वसंत की हवा बह रही है—इससे दो-एक नये समाचारों की भी आशा की जा सकती है।

पूर्ण : दक्खिनी हवा से जिन समाचारो की सृष्टि होती है, कुमार-सभा के समाचार-पत्र मे उनके लिए कोई स्थान नही। तपोवन मे एक दिन असमय वसत की हवा बहने लग गई थी, इसीसे कालिदास के 'कुमारसभव' काव्य की रचना हुई थी—हमारे दुर्भाग्य सेकही वसत की हवा के मारे कुमार-असंभव काव्य न तैयार हो जाय।

विपिन : होता हो तो होने दो, पूर्णबाबू का उस काव्य मे जो देवता भस्म हो गए थे इस काव्य मे उन्हे पुनर्जीवन मिल जायगा।

पूर्ण : इस काव्य मे चिरकुमार सभा क्यो न भस्म हो। जो देवता जल

गए थे वे ही इसे जलाएँ। नही-नही, मै हँसी नही करता श्रीशबाबू, हम लोगो की चिरकुमार सभा तो पूरी लाक्षागृह है। आग लगी कि बस। फिर बचने का कोई उपाय नही। इससे तो अच्छा है कि कोई विवाहित सभा स्थापित करो। स्त्री-जाति की ओर से निरापद तो रह सकें। आवे मे पकी ईट से घर बनाने पर घर जलने का डर नही रहता।

श्रीश : ऐरे-गैरे सभी ने व्याह करके व्याह को मिट्टी मे मिला दिया है पूर्ण-बाबू! इसीलिए तो कुमार-सभा बनी है। जब तक मुझमें दम है तब तक इस सभा मे प्रजापति[1] का प्रवेश निषेध रहेगा।

विपिन : और कामदेव का?

श्रीश : वे शौक से आयँ। एक बार उनके साथ घनिष्ठता हो जाय, बस फिर कोई खतरा नही।

पूर्ण : देखो श्रीशबाबू—

श्रीश : देखना क्या है! मै तो उन्हे खोजता फिरता हूँ। एक छोटी-सी आह भरूँगा, कविता गुनगुनाऊँगा कनकवलयभ्रंसरिक्तप्रकोष्ठ हो जाऊँगा, तभी तो बाकायदा सन्यासी बन पाऊँगा। अपने कवि ने लिखा है—

गीत—२६

बीत न जाय रात, प्रिय आओ

अपनी उत्कट रूप-ज्वाल से
जीवन-दीप जलाती जाओ।

कर में दीप शिखा तुम लेकर
निकल पड़ो कब संमुख पथ पर
बाट देखता हूँ मै प्रतिपल
तम, में डूबा यह अंतस्तल
ज्वाला की आशा में नीरव
बैठा है, इसको दुलराओ!
बीत न जाय रात प्रिय, आओ!

१. विवाह के देवता

पूर्ण : वाह श्रीशबाबू, तुम्हारे कवि ने कविता तो बुरी नही लिखी—

बीत न जाय रात, प्रिय आओ
जीवन-दीप जलाती जाओ !

कमरा सजा हुआ है—थाली मे माला रखी है, पलग पर फूलो की सेज है, बस सिर्फ जीवन-दीप नही जल रहा है। शाम धीरे-धीरे रात होती जा रही है। वाह, खूब लिखा है। किस किताब मे है, बताना।

श्रीश : किताब का नाम है 'आवाहन'।

पूर्ण नाम भी छाँटकर रखा है, अच्छा है (गुनगुनाता है)

बीत न जाय रात, प्रिय आओ
जीवन-दीप जलाती जाओ !

(ठंडी सास लेता है।)

तुम लोग क्या घर की ओर जा रहे हो ?

श्रीश : घर किधर है हम तो यही भूल गए भई !

पूर्ण : आज की रात तो है ही रास्ता भूलने की। क्यो विपिनबाबू ?

श्रीश : विपिनबाबू इन मामलो में नही बोलते, कही उनके भीतर का कवित्व न पकड़ाई दे जाय। कृपण जिस चीज़ को ज्यादा प्यार करता है उसे ज़मीन मे गाडकर रखता है।

विपिन : गलत जगह पर फिजूल खर्च नही करना चाहता भाई, सही जगह खोजता फिरता हूँ। मरना ही है तो सीधे गंगा-घाट पहुँचकर मरना अच्छा।

पूर्ण : बहुत खूब, यह तो शास्त्रसगत बात है। विपिनबाबू ने तो बिलकुल आखिरी समय के लिए कवित्व सचय कर रखा है, कोई और बातें करेगा पर ये निरुत्तर रहेगे। आशीर्वाद देता हूँ, उस किसी और के वे वाक्य मधुमय हो।

श्रीश : और उनमें थोड़ी-सी चिरपिराहट भी हो।

विपिन : और सिर्फ वाक्य-वर्षा करके ही मुँह का सारा कर्त्तव्य शेष न हो जाय।

पूर्ण : वाक्यो के विरामस्थल वाक्यो से भी अधिक मीठे हो।

श्रीश . उस दिन नीद न आय।

पूर्ण : वह रात बीते ही नही।

विपिन : चद्र पूर्णचद्र बने।

पूर्ण : विपिन वसत के फूलो से खिल उठे।

श्रीश : और अभागा श्रीश कुजद्वार पर आकर ताक-झाँक न करे।

पूर्ण : हटो जी श्रीशबाबू, अपनी उस 'आवाहन' मे से कोई और कविता सुनाओ। कमाल लिखा है भई—

बीत न जाय रात, प्रिय, आओ
जीवन-दीप जलाती जाओ !

अहा, एक जीवन-दीप की लौ दूसरे जीवन-दीप के मुँह से बस जरा टकरा जाय, फिर और क्या चाहिए—दो कामल अँगुलियो का दीपक को छूकर जरा-सा उकसा देना, उसके बाद तो पलक मारते ही चारो ओर उजाला। (गुनगुनाता है)

बीत न जाय रात, प्रिय, आओ
जीवन-दीप जलाती जाओ।

श्रीश : पूर्णबाबू, जा किधर रहे हो ?

पर्ण : चद्रबाबू के घर एक किताब पड़ी छोड़ आया हूँ, उसीको खोजने जा रहा हूँ।

विपिन : खोजने से मिल तो जायगी न ? चंद्रबाबू का घर बड़ी गड़बड़ जगह है—वहाँ जो चीज खो जाती है वह फिर नही मिलती।

(पूर्ण का प्रस्थान)

श्रीश : (आह भरकर) पूर्ण भी खूब है भाई विपिन !

विपिन : भीतर की भाप के जोर से कही उसका सिर सोडावाटर की डाट की तरह फटाक से उड़ न जाय।

श्रीश : उड़ जाय तो उड़ने दो। लोहे के तार से कसकर किसी-न-किसी तरह सिर को ठीक जगह रखे रहना ही क्या जीवन का चरम पुरुषार्थ है। अगर बीच-बीच मे थोड़ा-बहुत फिरता न रहे तो दिन-रात कुली के बोझ की तरह सिर को ढोते रहने से क्या लाभ? तार काट दो भाई, एक बार उड़ने दो—उस दिन तुम्हे सुना रहा था न—

गीत—२७

अरे सयाने पथिक, ज़रा तो एक बार पथ भूल
अश्रु नीर में आज डुबो दे इन नयनों के कूल
उसी भूल-पथ पर ही तो है खोये मन का कुंज
झरते कण्टक-तरु के नीचे रक्तकुसुम के पुंज
जहाँ अथाह सिंधु की लहरें करें क्षितिज से मेल
साँझ-सवेरे प्रलय सृजन का चलता रहता खेल।

विपिन : आजकल तुमने कविता पढ़ना खूब शुरू कर दिया है। देखता हूँ, जल्दी ही किसी मुश्किल मे पडने वाले हो।

श्रीश : जो आदमी स्वेच्छा से मुश्किल का रास्ता खोजता फिरता है उसके लिए किसी को फिक्र करने की ज़रूरत नही। मुश्किलो से कतरा-कर चलते-चलते अचानक मुश्किल में पैर पड़ने पर ही आफ़त आती है। आइए, रसिकबाबू। रात मे कैसे निकल पड़े।

(रसिक का प्रवेश)

रसिक : मेरे लिए क्या रात, और क्या दिन !

वरमसौ दिवसौ न पुर्ननिशा,
ननु निशैव वरं न पुर्नदिनम्।
उभयमेतदुपैत्वथवा क्षयं
प्रियजनेन न यत्र समागमः।

श्रीश : अस्यार्थः ?

रसिक : अस्यार्थ है—

आना हो तो आये रजनी, आये दिन भी
जब भी जाना चाहें, जायें
इनके आने-जाने में रक्खा ही क्या है
यदि मेरे प्रिय संग न आयें।

अब तक न जाने कितने रात-दिन आए और गए, लेकिन वे अभी तक नही आए—इसलिए दिन कहिए चाहे रात कहिए, मेरी इन दोनो पर तनिक भी श्रद्धा नही।

श्रीश : अच्छा रसिकबाबू, अगर अचानक प्रियतम आ धमकें तो।

रसिक : तो वे मेरी ओर आँख थोड़े ही उठायँगे, तुम्ही मे से किसी के बाँटे आयँगे।

श्रीश : तब तो वे उसी क्षण अ-रसिक साबित हो जायँगे।

रसिक : और दूसरे ही क्षण बड़े आनंद से अपना समय बिताने लग जायँगे। खैर, मै ईर्ष्या नही करना चाहता श्रीशबाबू, मेरी तकदीर से जिन्होने आने मे इतनी देर लगा दी है उन्हे मैं तुम्हीको उत्सर्ग करता हूँ। हे देवी, अपनी वरमाला गूँथ लाओ। आज वसंत की चाँदनी रात है, आज अभिसार के लिए आओ।

मंदं निधेहि चरणौ, परिधेहि नीलं
वासः, पिधेहि वलयावलिमंचलेन।
मा जल्प साहसिनि शारदचंद्रकांत
दंशांशवस्तव तमांसि समापयन्ति।

धीरे-धीरे चलो तन्वी, धारो नीलाम्बर,
बाँध के अंचल से रक्खो कंकण मुखर;
बोलो मत, कहीं तव दँत-ज्योतिकण
कर दे न नष्ट यह तिमिर गहन।

श्रीश : रसिकबाबू, आपकी झोली ता पूरपूर भरी हुई है। ऐसे कितने अनुवाद कर रखे है ?

रसिक : बहुतेरे। लक्ष्मी तो आई नही, बस सरस्वती के सहारे दिन काट रहा हूँ।

श्रीश : भई विपिन, अभिसार की बात कल्पना मे तो बडी अच्छी लगती है।

विपिन . उसे फिर से प्रचलित करने के लिए चिरकुमार सभा मे कोई प्रस्ताव कर देखो न !

श्रीश : कुछ बातें ऐसी होती है जिनका आइडिया इतना सुन्दर होता है कि ससार मे उनको चलाने का साहस नही होता। जिस मार्ग पर अभिसार हो सकता है, जहाँ कामिनियाँ के हार से मोती टूटकर बिखरते रहते है वह मार्ग क्या यह तुम्हारी पटलडाँगा स्ट्रीट है। वह मार्ग ससार मे कही है ही नही। विरहिणी का हृदय नीलाबर पहनकर मनोराज्य के ही पथ पर विचरण करता है—वक्ष पर से

मोती टूटकर बिखरते रहते है पर वह आँख उठाकर देखता तक नही ।—सच्चे मोती होते तो बीनकर रख लेता। है न रसिक-बाबू ?

रसिक : यह बात तो माननी ही पडेगी—अभिसार की बात मन-ही-मन अच्छी लगती है, घोडागाड़ी की सडक पर वह खड़ी बेतुकी लगेगी। आशीर्वाद देता हूँ श्रीशबाबू, ऐसी वसंत की चाँदनी रात मे किसी बँगले से किसी रमणी का व्याकुल हृदय तुम्हारे घर की ओर अभिसार के लिए निकल पड़े ।

श्रीश . ज़रूर निकलेगा रसिकबाबू, आपका आशीर्वाद ज़रूर फलेगा । आज की हवा मे मैं मन-ही-मन यही सवाद पा रहा हूँ । बिशू डाकू[1] जिस तरह खबर देकर डाका डालता था उसी तरह मेरी अपरिचित अभिसारिका ने मुझे पहले से ही अभिसार की खबर भेज दी है ।

विपिन : अपना वह ऊपर वाला बरामदा सजाकर तैयार होकर बैठो !

श्रीश · सो तो मैं अपने दाहिने बरामदे मे एक कुर्सी पर खुद बैठता हूँ और एक कुर्सी सजी-सजाई रहती है ।

विपिन : उस पर मै जाकर बैठा करता हूँ ।

श्रीश : मध्यभावे गुड़ दद्यात्, और नही तो तुम्ही सही ।

विपिन . पर जब मधुमयी आयगी तब तक हम अभागो के भाग्य में लगुड़ दद्यात् ।

रसिक : (अलग से) श्रीशबाबू, अपनी दाहिनी छत की पहचान के लिए आपको जो झडा फहराना चाहिए वह तो आप वही डाल आए ।

श्राश . क्या अब कोशिश करने से वह रूमाल मिल सकता है ?

रसिक : कोशिश करने मे क्या हर्ज़ है ।

श्रीश : विपिन, भाई तुम ज़रा रसिकबाबू के साथ बातचीत करो, मैं चट से हो जाता हूँ ।

(प्रस्थान)

विपिन . अच्छा रसिकबाबू, नाराज़ न हों—

रसिक . नाराज़ हो भी जाऊँ तो भी आपको कोई ख़तरा नही, मैं बहुत कमजोर हूँ ।

---

१. बगाल की दन्त-कथाओं में प्रसिद्ध एक डाकू ।

विपिन : आपको बुरा न लगे तो दो-एक सवाल पूछूं।
रसिक : मेरी उम्र के बारे में तो कोई सवाल नही है न ?
विपिन : नहीं।
रसिक : तो फिर पूछिए, सही उत्तर मिलेगा।
विपिन : उस दिन जिन महिला को देखा था, वे—
रसिक : वे चर्चा करने योग्य है, आप सकोच न करें विपिनबाबू—उनके बारे में अगर आप बीच-बीच मे कुछ पूछ-ताछ या चर्चा करे तो उससे आपकी विचित्रता सिद्ध नही होती—हम भी यही करते रहते हैं।
विपिन : अवलाकात बाबू शायद—
रसिक : उनकी कुछ न पूछिए—उनकी जुबान पर तो और कोई बात ही नही आती।
विपिन : वे क्या—
रसिक : हाँ, बिलकुल ठीक। फिर भी बात यह है कि नृपबाला और नीरबाला इन दोनो मे से वे किसको अधिक प्यार करते है इसे वे तय नही कर पाते—हमेशा दोनों के बीच झूलते रहते हैं।
विपिन : लेकिन क्या उनमे से कोई उनके प्रति—
रसिक : नही, ऐसा तो नही लगता कि उनसे ब्याह करेंगी। यह होता तो फिर गड़बड ही क्या थी !
विपिन · अवलाकातबाबू शायद तभी कुछ—
रसिक : कुछ सोच मे डूबे रहते है।
विपिन · कुमारी नीरबाला शायद गाना पसद करती हैं।
रसिक : हाँ, करती तो है। उसका प्रमाण तो आपकी जेब मे ही है।
विपिन : (जेब से गाने की कापी निकालकर) इसको ले आकर मैंने बड़ी अभद्रता की है —
रसिक . यह अभद्रता आप न करते तो हममे से कोई और करता।
विपिन : आप लोग करते तो वे माफ कर देती पर मैं—सचमुच मैंने बड़ी ज्यादती की है, लेकिन अगर अब लौटा दूं तो ?
रसिक : तो भी ज्यादती तो ज्यादती ही रहेगी।
विपिन : इसलिए—

रसिक : जैसे बावन वैसे तिरपन। उड़ाकर ले आने मे जो अपराध हुआ है, रख लेने मे बहुत होगा, थोड़ा-सा और बढ जायगा।

विपिन : कापी के बारे में क्या उन्होने आप लो सेगो कुछ कहा था ?

रसिक : कहा तो था थोड़ा ही, पर जो नही कहा वह बहुत था ?

विपिन : सो कैसे ?

रसिक : लज्जा के मारे लाल हो उठी।

विपिन : छिः-छिः, वह लज्जा मेरी है।

रसिक : आपकी लज्जा उन्होने बँटा ली है, जिस तरह अरुण की लज्जा से उपा लाल हो जाती है।

विपिन : मुझे अब और पागल न बनाइए रसिकबाबू !

रसिक · दल में शामिल कर रहा हूँ ज-ाव !

विपिन : (कापी फिर से जेब में रखकर) अंग्रेजी मे कहावत है : भूल करना मानव का धर्म है, क्षमा करना देवता का।

रसिक : तो क्या आपने मानव-धर्म-पालन का ही निश्चय किया ?

विपिन . अब देवी के धर्म का पालन वे करें।

(श्रीश का प्रवेश)

श्रीश : अबलाकांतबाबू से भेंट नही हुई।

विपिन . तुम क्या उन्हे रातो-रात सन्यासी बना डालना चाहते हो ?

श्रीश : खैर, अक्षय बाबू से विदा ले आया।

विपिन : ठीक, ठीक, मैं तो उनसे कहकर आना ही भूल गया—एक बार उनसे मिल आऊँ।

रसिक . (अलग से) अब शायद और कुछ उड़ाने की मन मे है। मानव-धर्म धीरे-धीरे आपके सिर पर सवार होता जा रहा है।

(विपिन का प्रस्थान)

श्रीश : रसिकबाबू, मुझे आपसे एक सलाह लेनी है।

रसिक : उम्र तो सलाह देने लायक हो ही गई है, बुद्धि चाहे न भी हो।

श्रीश : उस दिन आपके यहाँ जिन दो महिलाओ को देखा था, मैं तो उन दोनो को ही सुदरी समझता हूँ।

रसिक : आपकी समझ को दोप नही दिया जा सकता। सभी की यही राय है।

श्रीश : अगर मैं उनके बारे में आपसे कभी-कभी बातचीत करूँ तो—

रसिक : तो मुझे खुशी होगी। आपका मन बहल जायगा और उनकी भी कोई विशेष हानि नही होगी।

श्रीश : बिलकुल नही। अगर झिल्ली नक्षत्रो की चर्चा करे—

रसिक : तो उससे नक्षत्रो की नीद में कोई विघ्न नही पड़ता।

श्रीश : शायद झिल्ली को ही अनिद्रा रोग हो जाय। पर मुझे इसमे कोई आपत्ति नही।

रसिक : आज तो यही लग रहा है।

श्रीश . जिनका रूमाल मुझे पड़ा मिला था, उनका नाम तो बताइए।

रसिक : उनका नाम है नृपबाला।

श्रीश · वे कौन-सी हैं ?

रसिक : आप ही अदाज़ से बताइए न।

श्रीश . जिन्होने वह लाल रंग की रेशमी साड़ी पहन रखी थी ?

रसिक : कहे जाइए।

श्रीश : जो लज्जा के मारे भाग जाना तो चाहती थी, पर भागने मे भी लज्जा का अनुभव कर रही थी—इसीलिए क्षण-भर के लिए जो अचानक त्रस्त हरिणी की भाँति खड़ी रह गई थी, सामने की दो-एक लटे जिनकी आँखो के ऊपर आ पड़ी थी—चाभी के गुच्छे वाले अपने अचल को बाएँ हाथ से सँभालतीं जब वे तेजी से चली गई तो उनकी पीठ पर पडे काले केश काले ज्योतिष्क की भाँति मेरे दृष्टिपथ पर नाचते चले गए।

रसिक : यह तो सचमुच ही नृपबाला है। लज्जित पैर, कुठित हाथ, त्रस्त आँखें, कुचित केश; दु.ख की बात है उनका हृदय आप नही देख पाए—वह फूल मे छिपे पराग की भाँति मधुर है, ओस की बूंद की भाँति करुण।

श्रीश : रसिक बाबू, आपके भीतर जो इतना कवित्वरस सचित है उसका स्रोत कहाँ है, अब पता चला।

रसिक : अब आपने पकड़ लिया श्रीशबाबू—

कवीन्द्राणां चेतः कमलवनमालातपरुचि
भजन्ते ये संतः कतिचिदरुणामेव भवती।

विरञ्चिप्रेयस्यास्तरुणतरश्रृंगारलहरी
गभीरामिर्वाग्भिविदधति सभारंगनमयी।

तुम तो कवीन्द्रो के हृदय-रूपी कमलवन की किरणलेखा हो, जो सरस्वती की सभा-रजनकारी तरुण लीलालहरी व्यक्त कर सकते हैं। मुझे कवियो के हृदय-कमल-वन की इसी किरणलेखा का परिचय मिल चुका है।

श्रीश : कुछ दिन हुए मुझे भी थोड़ा-सा परिचय मिला है, तभी से मेरे लिए भी कवित्व सहज हो उठा है।

(अक्षय का प्रवेश)

अक्षय : (स्वगत) उफ, इन दोनो नवयुवको ने मिलकर मेरा घर मे बैठना मुश्किल कर दिया। एक तो चोरो की तरह आकर मेरे कमरे मे न जाने क्या ढूँढ रहा था—मैने पकड़ लिया तो कोई कैफियत नही दे पाया—आखिरकार मेरे ही पीछे पड गया। थोड़ी देर बाद देखा कि दूसरे सज्जन भी कमरे मे आकर कतावों को उलट-पुलट-कर निरीक्षण कर रहे हैं। दूर से देखते ही भाग आया। इन लोगो के मारे अच्छी तरह मन लगाकर चिट्ठी भी नही लिख पाया।—अहा, गजब की चाँदनी है।

श्रीश : अरे, यह तो अक्षयबाबू हैं।

अक्षय : यह लो। एक डाकू कमरे मे है, दूसरा डाकू सड़क पर। हे प्रिये, तुम्हारे ध्यान मे डूबे मेरे इस मन को जो लोग डिगा रहे हैं वे यदि मेनका, उर्वशी या रंभा होते तो मुझे कोई खेद न होता—मनचाहा ध्यान-भग भी अक्षय के भाग्य मे नही—कलियुग मे इन्द्रदेव भी बुड्ढे हो जाने के कारण अरसिक हो गए हैं।

(विपिन का प्रवेश)

विपिन : अरे, अक्षयबाबू आप। आप ही को तो खोज रहा था।

अक्षय : हाय रे अभागे, ऐसी रात क्या मेरी खोज मे निकलने के लिए बनी थी।

In such a night as this,
When the sweet wind did gently kiss the trees
And they did make no noise, in such a night

Troilus methinks mounted the Trojan walls
And sighed his soul toward the Grecian tents,
Where Cressid lay that night.

श्रीश : In such a night आप क्या करने निकले है अक्षयबाबू ?

रसिक : अपसरति न चक्षुषो मृगाक्षी
रजनिरियं च न याति नैति निद्रा।
आँखों में मृगाक्षी की छवि लहराती है;
रात भी न बीतती है, नींद भी न आती है।
अक्षयबाबू की हालत मैं जानता हूँ जनाब।

अक्षय : तुम कौन हो जी !

रसिक : मैं हूँ रसिकचन्द्र--एक-एक तरफ से एक-एक युवक का सहारा लेकर यौवनसागर मे बह रहा हूँ।

अक्षय : इस उम्र में यौवन झेल नही पाओगे रसिकबाबा।

रसिक : यौवन किस उम्र मे झिलता है, क्या पता। वह तो है ही असह्य। श्रीशबाबू, आपको कैसा लग रहा है।

श्रीश : अभी ठीक से समझ नही पाया।

रसिक : शायद मेरी तरह बुढापे की प्रतीक्षा कर रहे हो। अक्षयदा, आज तुम बड़े अनमने दीख रहे हो।

अक्षय : तुम्हे तो अनमना लगूँगा ही। मन तुम्हारी ओर नही है न-- विपिनबाबू, तुम मुझे खोज तो जरूर रहे थे लेकिन ऐसा नही लगता कि कोई बहुत जरूरी बात थी। इसलिए मैं विदा लेता हूँ, मुझे एक खास काम है।

(प्रस्थान)

रसिक : लो, विरही तो चला चिट्ठी लिखने।

श्रीश : अक्षयबाबू है खूब। रसिकबाबू, इन्हीकी पत्नी शायद बड़ी बहन है। क्या नाम है उनका ?

रसिक : पुरबाला।

विपिन : (पास जाकर) क्या नाम बताया ?

रसिक . पुरबाला।

विपिन : वे ही शायद सबसे बड़ी हैं।

रसिक : हाँ।

विपिन : सबसे छोटी का क्या नाम है ?

रसिक नीरवाला।

श्रीश और नृपवाला कौन-सी हैं ?

रसिक : वे नीरवाला से बड़ी हैं।

श्रीश . तब तो नृपवाला ही मँझली हुई।

विपिन : और नीरवाला हुई छोटी।

श्रीश : पुरबाला से छोटी नृपवाला।

विपिन और उनसे छोटी नीरवाला।

रसिक : (स्वगत) इन लोगो ने तो नाम जपना शुरू कर दिया। मेरी मुश्किल है। मुझसे तो अब ओस सहन नही होता, खिसकने की तरकीब करनी चाहिए।

(वनमाली का प्रवेश)

वनमाली : अरे, आप लोग यहाँ है। मैं तो आपके घर गया था।

श्रीश . अब आप यहाँ रहिए, हम लोग घर चलें।

वनमाली : आप तो हमेशा ही व्यस्त दिखाई पड़ते है।

विपिन : हाँ, आपको देखते ही विशेष रूप से व्यस्त हो जाते हैं।

वनमाली : अगर पाँच मिनट रुक सकें तो……

श्रीश . रसिकबाबू, कुछ ठंड-सी लग रही है न ?

रसिक : आप लोगो को तो अब लगने लगी है, मुझे तो बहुत पहले से ही लग रही है।

वनमाली · चलिए न, घर ही चलिए न।

श्रीश : श्रीमान्, इतनी रात गए अगर आप मेरे घर मे प्रवेश करेंगे तो फिर……

वनमाली : अच्छी बात है, लगता है आप लोग कुछ व्यस्त है। फिर कभी सही।

चतुर्थ अंक

पहला दृश्य

अक्षय का घर

(रसिक और शैलबाला)

रसिक : भई शैल।

शैलबाला : क्या है रसिक बाबा!

रसिक : यह क्या मेरा काम है? शिवजी की तपस्या भंग करने के लिए स्वयं कामदेव आए थे—और मैं बुड्ढा—

शैलबाला : तुम बुड्ढे ही सही, पर ये युवक भी तो युगल महादेव नही है।

रसिक : सो तो नही है। यह तो मैं अच्छी तरह ठोक-बजाकर देख चुका हूँ। तभी तो बे-खटके आया था। लेकिन इनके साथ सड़क पर ओस मे खड़े रहकर आधी-आधी रात तक रस-चर्चा करने लायक गर्मी तो मेरे शरीर मे है नही।

शैलबाला : उनके संसर्ग से गर्मी दौड़ने लग जायगी।

रसिक : सूर्य के जिस ताप से जिन्दा पेड खिल उठता है मुर्दा लकड़ी उसी ताप से फट जाती है। बुड्ढे आदमी के लिए यौवन का उत्ताप लाभदायक नही होता।

शैलबाला : कहाँ! तुम्हे देखकर तो नही लगता कि फटने वाले हो।

रसिक : भई, हृदय देख सकती तो समझती।

शैलबाला : क्या कह रहे हो रसिकबाबा! तुम्हारी उम्र ही तो सबसे अधिक निरापद है। यौवन का दाह तुम्हारा क्या कर लेगा?

रसिक : शुष्केन्धने वह्निरुपैति वृद्धिम्। बुड्ढे को पाते ही यौवन का दाह भी धू-धू करके जल उठता है—इसीलिए तो 'वृद्धस्य तरुणी भार्या'

विपत्ति का कारण होती है। अव और क्या कहूँ !

(नीरबाला का प्रवेश)

रसिक : आगच्छ वरदे देवि ! तुम मुझे वर दोगी या नही, यह तो पता नही, पर तुम्हे एक वर देने के लिए मेरी जान निकली जा रही है। शिवजी तो विना कुछ किये ही तुमसे पूजा पा रहे हैं, और यह वूढ़ा जो दौड़-धूप करते-करते मरा जा रहा है इसे क्या कुछ भी नही मिलेगा !

नीरबाला : शिवजी पाते हैं फूल, तुम पाओगे उसका फल—वरमाला तुम्ही-को चढ़ाऊँगी रसिकवावा !

रसिक : मिट्टी के देवता पर प्रसाद चढ़ाने मे सुविधा यह है कि वह ज्यो-का-त्यो लौटकर आ जाता है—मुझे भी तू वे-खटके वरमाला चढा सकती है, जरूरत पड़ते ही वापस मिल जायगी। इससे तो अच्छा है भई, मेरे लिए एक गुलूवंद वुन दे। वरमाला की वजाय वह वूढ़े आदमी के ज्यादा काम आएगा।

नीरबाला : वुन दूंगी—पशमीने के जूते भी वुन रखे है, वे भी श्रीचरणेपु होगे।

रसिक : वाह-वाह, इसीको कहते हैं कृतज्ञता। लेकिन नीरू, मेरे लिए गुलू-वद ही काफी है—न सही आपादमस्तक, उसके लिए उपयुक्त व्यक्ति मिल जायगा, जूते उन्हीके लिए रहने दे।

नीरबाला : अच्छी वात है, तुम अपना भापण भी रहने दो !

रसिक : देखती हो शैल, आजकल नीरू को भी शर्म आने लगी है—लक्षण अच्छे नही हैं।

शैलबाला : नीरू, तू कर क्या रही है ! फिर इस कमरे में आई ? यहाँ तो आज हमारी सभा जुड़ेगी। अभी कोई आ टपके तो मुश्किल मे पड़ोगी।

रसिक · उस मुश्किल का स्वाद इसे एक वार मिल चुका है, तभी से यह वार-वार मुश्किल मे पड़ने के लिए छटपटाती फिर रही है।

नीरबाला : देखो रसिकवावा, अगर मुझे छेड़ोगे तो फिर गुलूवद नही मिलेगा, कहे देती हूँ। और जीजी, तुम अगर रसिकवावा की वातों पर इस तरह हँसोगी तो उनकी हिम्मत और भी वढ़ जायगी।

रसिक : देखती हो शैल, नीरू आजकल मज़ाक़ भी नही सह पाती, इसका मन कितना दुर्बल हो गया है। नीरू जीजी, शास्त्रो मे लिखा है, कभी-कभी कोयल की कूक भी कानों को बुरी लगती है। क्या अपने रसिक बाबा का मज़ाक भी तुझे आजकल कुहूतान जान पड़ता है।

नीरबाला : इसीलिए तो तुम्हारे गले में गुलूबन्द बाँध देना चाहती हूँ—तान कुछ घट जाए।

शैलबाला : नीरू अब और मत झगड़—चल, लोग आने ही वाले है !

(नीर और शैल का प्रस्थान)

(पूर्ण का प्रवेश)

रसिक : आइए पूर्णबाबू !

पूर्ण : अभी और कोई नही आया ?

रसिक : आप शायद बस इस बुड्ढे को देखकर हताश हो गए है। और भी आयँगे, पूर्णबाबू !

पूर्ण : हताश क्यो होऊँगा, रसिकबाबू !

रसिक : भला यह मैं कैसे कह सकता हूँ। लेकिन कमरे मे घुसते ही आपकी आँखें देखकर लगा कि वे जिस व्यक्ति की याचना करती फिर रही है वह मैं नही हूँ।

पूर्ण : नेत्र-शास्त्र का आपको इतना ज्ञान कैसे हुआ ?

रसिक : मेरी ओर कभी किसी ने देखा ही नही इसलिए आज तक मुझे औरो की आँखो का पर्यवेक्षण करने का काफी अवसर मिला है। अगर मेरा भाग्य भी आप लोगों की तरह होता तो मैं भी नेत्र-शास्त्र के स्थान पर काफी नेत्र-लाभ पा सकता। लेकिन कुछ भी हो पूर्णबाबू, सृष्टि मे आँखों के बराबर अनोखी चीज और कोई नही। शरीर मे अगर मन कही निवास करता है तो इन्ही आँखो मे।

पूर्ण : (उत्साह के साथ) सही कह रहे है रसिकबाबू, इस क्षुद्र शरीर मे अगर कुछ है जिसकी तुलना अनन्त आकाश अथवा अनन्त समुद्र से की जा सकती है तो वे आँखे ही है।

रसिक : निःसीमशोभासौभाग्यं नताङ्ग्या नयनद्वयं
अन्योहन्यालोकनानन्दविरहादिव चञ्चलं।
समझे पूर्णबाबू !

पूर्ण : नही, पर समझना चाहता हूँ।

रसिक · असीम सौभाग्यवती विनीता किशोरी के
लोचन-युगल
देखते न परस्पर क्या तभी विरह-कातर
हो उठे चंचल ?

पूर्ण : रसिकबाबू, यह सही नही है। यह केवल वाक्चातुर्य है। आँखें एक-दूसरे को देखना नही चाहती।

रसिक . दूसकी आँखो को तो देखना चाहती है ! उसी ढग से अर्थ लगा लीजिए। आखिर की दो लाइने बदली जा सकती है—
प्रिय के नयनों में मिलता आनन्द जो
खोजते चञ्चल

पूर्ण : कमाल है रसिकबाबू !
प्रिय के नयनों मे मिलता आनन्द जो
खोजते चञ्चल
तिस पर बेचारी बदिनी है—पिंजड़े के पक्षी की तरह बस इधर-उधर छटपटाती रहती है—पख खोलकर अपने प्रिय लोचनो के पास उड़कर नही जा सकती।

रसिक : और फिर नयनो के मिलने का मामला कितना भयंकर है। यह भी शास्त्र मे लिखा है—
हत्वा लोचनविशिखैर्गत्वा कतिचित् पदानि पद्माक्षी
जीवति युवा न वा किं भूयो भूयो विलोकयति।
नयन-बाण से हृदय बेधकर
लौट गई जब वह अपने घर
अनुशोचन उपजा
उसकी दशा देखने को वह
विकल देखती मुड़कर रह-रह
लोचन-वर-वनजा

पूर्ण : रसिकबाबू, रह-रहकर मुड़-मुडकर तो सिर्फ काव्य मे ही देखती है।

रसिक : इसका कारण यह है कि काव्य मे मुड़कर देखने मे कोई असुविधा नही। अगर ससार भी ऐसे ही छन्दो से वना होता तो यहाँ भी मुड़-मुड़कर देखती पूर्णबाबू।—यहाँ मन मुड़कर देखता रहता है आँखे नही मुड़ती।

पूर्ण : (आह भरकर) वड़ी बुरी जगह है, रसिकबाबू। लेकिन आपने खूब कहा है—

प्रिय के नयनों में मिलता आनन्द जो
खोजते चंचल

रसिक : वाह-वाह पूर्णबाबू, आँखो की बात चली है तो अब बात खत्म करने की तबियत ही नही होती—

लोचन हरिणगर्वमोचने
मा विदूषय नताङ्गि कज्जलैः।
सायकः सपदि जीवहारकः
किं पुनर्हि गरलेन लेपितः।
मृग-मद-मोचन लोचन को तू
स्पर्श न दे काजल का—
यों ही बाण प्राण हरते हैं
फिर क्या काम गरल का ?

पूर्ण : बस बस रसिकबाबू, शायद कोई आ रहे है।

(चन्द्रबाबू और निर्मला का प्रवेश)

चन्द्र . अरे अक्षयबाबू !

रसिक : मुझमें और अक्षयबाबू मे समानता है यह बात अगर अक्षयबाबू और उनके आत्मीय सुनेगे तो दुखी होगे। मैं रसिक हूँ।

चन्द्र : माफ करे रसिकबाबू, अचानक भ्रम हो गया।

रसिक . माफ करने की क्या बात है श्रीमान् ! मुझे अक्षयबाबू समझकर आपने मेरा तनिक भी अनादर नही किया है। माफी तो उनने माँगिएगा। पूर्णबाबू और मैं इतनी देर से विज्ञान-चर्चा कर रहे थे।

चन्द्र : मैं सोच रहा था कि अपनी कुमार-सभा मे हम हर महीने एक दिन विज्ञान की चर्चा के लिए तय कर दें। आज किस विषय पर चर्चा हो रही थी, पूर्णबाबू !

पूर्ण · ऐसा कोई खास विपय तो नही था चन्द्रबाबू !

रसिक : आँखों की दृष्टि के बारे मे दो-चार बातें कह-सुन रहे थे।

चन्द्र · दृष्टि का रहस्य बड़ा कठिन है रसिकबाबू !

रसिक : कठिन तो है ही। पूर्णबाबू की भी यही राय है।

चन्द्र : हमारे दृष्टि-पट पर हर चीज़ की छाया उल्टी पड़ती है। हम लोग उसे किस प्रकार सीधा देखने मे समर्थ होते है इस बारे मे मुझे तो कोई भी मत सन्तोषजनक नही लगता।

रसिक : सन्तोषजनक हो भी कैसे। सीधा देखना, टेढ़ा देखना, इन्ही सबके मारे तो आदमी का सिर फिर जाता है। बड़े सकट का विषय है।

चन्द्र : रसिकबाबू, निर्मला से आपका परिचय नही हुआ। ये ही है हमारी कुमार-सभा की पहली स्त्री-सदस्य।

रसिक : (नमस्कार करके) ये हमारी सभा की सभालक्ष्मी है। आप लोगो की कृपा से हमारी सभा मे विद्या, बुद्धि की तो कोई कमी थी नही। ये हमे श्री का दान करने आई है।

चन्द्र : श्री ही नही, शक्ति भी।

रसिक . एक ही बात है, चन्द्रबाबू ! शक्ति जब श्री के रूप मे प्रकट होती है तभी उनकी शक्ति असीम होती है, क्यो पूर्णबाबू !

(पुरुषवेशधारी शैलबाला का प्रवेश)

शैलबाला : माफ करे चन्द्रबाबू, मुझे आने मे देर तो नही हुई ?

चन्द्र (घड़ी देखते हुए) नही, अभी समय नही हुआ है। अबलाकांतबाबू, मेरी भानजी निर्मला आज अपनी सभा की सदस्या हो गई है।

शैलबाला . (निर्मला के पास बैठते हुए) देखिए, पुरुष होते है स्वार्थी। औरतो को बस अपनी सेवा के लिए बन्द करके रखना चाहते है—चन्द्रबाबू ने आपको हमारी सभा के हित के लिए दान कर दिया है, इससे उनका बड़प्पन प्रकट होता है।

निर्मला : मामाजी के लिए तो देश का काम और अपना काम एक ही बात है। अगर मै आपकी सभा का कोई उपकार कर सकी तो उससे

उन्हीकी सेवा होगी।

शैलवाला : यह आपका सौभाग्य है कि आप चन्द्रबाबू को इतनी अच्छी तरह जानने की योग्यता पा सकी, आप धन्य है।

निर्मला : उन्हे मै न जानूँगी तो और कौन जानेगा !

शैलवाला आत्मीय सर्वदा आत्मीय को नही जान पाते। आत्मीयता अगर छोटे को बड़ा कर देती है तो बड़े को छोटा भी कर डालती है। चन्द्रबाबू को आप यथार्थ रूप में जान पाई है इससे आपकी क्षमता प्रकट होती है।

निर्मला लेकिन मामाजी को यथार्थ रूप में जानना बहुत आसान है। उनमे बड़ी निर्मलता है।

शैलवाला · देखिए न, इसीलिए तो उनको ठीक तरह से जानना कठिन है। दुर्योधन स्फटिक की दीवार को देख ही न पाए कि दीवार है। सरल निर्मलता का महत्त्व क्या सब लोग समझ पाते हैं। वे तो उसकी उपेक्षा कर देते है। आडम्बर ही लोगो की आँखो को आकर्षित करता है।

निर्मला : आप सही कह रहे है। बाहर के लोग मामाजी को पहचान ही नही पाते। बाहरी लोगो में से इतने दिन बाद आपके मुँह से मामाजी की चर्चा सुनकर मुझे कितनी प्रसन्नता हो रही है, मैं क्या बताऊँ !

शैलवाला : आपकी भक्ति से मुझे भी उतनी ही प्रसन्नता हो रही है।

चन्द्र : (दोनों के पास आकर) अबलाकान्तबाबू, तुम्हे जो किताब दी थी वह पढ़ी ?

शैलवाला · पढ़ ली, और आपके उपयोग के लिए मैंने उसमे से नोट भी ले लिये है।

चन्द्र : बड़ी कृपा है—मुझे बड़ी खुशी हुई, अबलाकातबाबू ! पूर्ण खुद ही मुझसे वह किताब माँगकर ले गए थे, लेकिन तबियत ठीक न होने के कारण वे कुछ भी नही कर पाए। रजिस्टर क्या तुम्हारे पास है ?

शैलवाला : लाए देता हूँ।

(प्रस्थान)

रसिक : पूर्णबाबू, आप कुछ उदास दिखाई दे रहे है। तबियत तो ठीक है न ?

पूर्ण : नही, कुछ नही रसिकबाबू ! ये जो अभी गए है इन्हीका नाम अवलाकांत है क्या ?

रसिक : हाँ।

पूर्ण : मुझे इनका व्यवहार कुछ ठीक नही लगता।

रसिक : उम्र कम है न इसीलिए—

पूर्ण : महिलाओ से कैसा आचरण करना चाहिए यह वात उन्हे खास तौर पर सिखानी पड़ेगी।

रसिक : मैंने भी लक्ष्य किया है कि नारियो के साथ वे ठीक पुरुषोचित व्यवहार करना नही जानते—लगता है मानो पीछे लग गए हो। हो सकता है, कम उम्र के कारण हो।

पूर्ण : हम लोगो की उम्र भी तो बहुत ज्यादा नही हुई लेकिन हम तो—

रसिक : सो तो देख ही रहा हूँ। आप दूर ही दूर रहते है। लेकिन वे शायद इसे शिष्टता नही समझते। उन्हे शायद यह भ्रम हो गया है कि आप उन्हे अग्राह्य मानते हैं।

पूर्ण : यह क्या कह रहे है रसिकबाबू ! पर क्या करूँ, आप ही बताइए मेरी तो समझ मे ही नही आता। भला उनके पास पहुँचूँ भी तो किस तरह ?

रसिक : सोचने लगे तो गए। बिना सोचे ही बढ़ चलिए, फिर बात तो अपने-आप निकल आयगी।

पूर्ण : नही रसिकबाबू, मेरे मुँह से तो एक भी बात नही निकलती। क्या बात करूँ, आप ही बताइए न !

रसिक : ऐसी कोई बात मत कह वैठिएगा जिससे ससार मे युगान्तर आ जाय। जाकर कहिए, आजकल अचानक कैसी गर्मी पड़ने लगी है।

पूर्ण : वे अगर कहे, हाँ गर्मी पड़ रही है, तो फिर क्या कहूँगा ? .

(विपिन और श्रीश का प्रवेश)

श्रीश : (चन्द्रबाबू और निर्मला को नमस्कार करके निर्मला से) आप लोगों का उत्साह घड़ी से भी ज्यादा तेज चलने लगा है। देखिए न, अभी तक साढ़े छह नही बजे है।

निर्मला : आप लोगों की सभा में मेरा आज पहला दिन है, इसीलिए सभा जुड़ने के पहले ही आ गई थी—पहली सदस्या होने का सकोच मिटते कुछ समय लगता है।

विपिन : लेकिन आपसे हमारा निवेदन यही है कि हम लोगों से संकोच करने की कोई जरूरत नही। आज से आप हम लोगो का भार सँभालें—इन अभागे पुरुष-सदस्यो पर कृपा करके इनकी देख-भाल करती रहे और अपने हुक्म पर चलाती रहें।

रसिक : जाइए पूर्णवाबू, आप भी एकाध वात कर आइए।

पूर्ण : क्या वात करूँ ?

निर्मला : चलाने की क्षमता मुझमे नही हैं।

श्रीश : आप क्या हमे इतना अचल समझती है ?

विपिन : लोहे से ज्यादा अचल और भला क्या हो सकता है, लेकिन आग लोहे को भी चला देती है—हम-जैसे भारी वोझ को चलाने के लिए आप-जैसी दीप्ति की ही जरूरत है।

रसिक · सुन रहे हैं न पूर्णवावू ?

पूर्ण : क्या कहूँ, वताइए न !

रसिक : कहिए, लोहे को चलाने के लिए भी आग चाहिए और गलाने के लिए भी आग चाहिए।

विपिन : क्यो पूर्णवावू, रसिकवावू से परिचय हुआ ?

पूर्ण : हाँ।

विपिन : आज आपकी तवियत तो ठीक है न ?

पूर्ण : हाँ।

विपिन : क्या आपको आए वहुत देर हुई ?

पूर्ण : नहीं तो।

विपिन . आपने देखा न, इस वार जाड़ा घुड़दौड़ के घोड़े की तरह दौड़ते दौड़ते माघ के वीचोवीच अचानक धम्म-से वैठ गया है।

पूर्ण : हाँ।

श्रीश : कहिए पूर्णवावू, पिछली वार आपकी तवियत खराव थी—आज तो ठीक है न ?

पूर्ण : हाँ।

श्रीश : आज कमरे में घुसते ही समझ मे आ गया कि अभी तक कुमार-सभा मे किस वात की भारी कमी थी। सोने के मुकुट में बस एक हीरा जडने की देर थी—आज वही जड़ गया है। क्या खयाल है पूर्णवावू ?

पूर्ण : आप लोगों की-सी रचना-शक्ति मेरे पास नही है—मैं इस तरह वना-वनाकर वातें नही कर सकता—खास तौर से महिलाओं के वारे मे।

श्रीश : आपकी अक्षमता की वात सुनकर दुःख हुआ पूर्णवावू—आशा करता हूँ, धीरे-धीरे उन्नति कर लेगे।

विपिन : (रसिक को अलग ले जाकर) दोनो वीरो मे युद्ध चलता रहे। रसिक-वावू, जरा चलिए तो आपसे दो-एक वातें करनी हैं। देखिए, उस कापी के वारे में क्या और कोई वात उठी थी ?

रसिक : अपराध करना मनुष्य का धर्म है और क्षमा करना देवी का ! वातो-ही-वातो मे यह वात मैंने चलाई थी—

पूर्ण : इस पर उन्होने क्या कहा ?

रसिक : विना कुछ कहे विजली की तरह चली गई।

विपिन : चली गई ?

रसिक : लेकिन उस विजली मे वज्र नही था।

विपिन गर्जन ?

रसिक : वह भी नही था।

विपिन फिर ?

रसिक : कही-न-कही शायद थोड़ी-सी वर्षा का आभास था।

विपिन : इसका अर्थ ?

रसिक : क्या मालूम जनाव ! अर्थ भी हो सकता है, अनर्थ भी हो सकता है।

विपिन : रसिकवावू, आप न जाने क्या कहते हैं, मैं समझ नही पाता।

रसिक समझेंगे भी कैसे—वडी कठिन वात है।

श्रीश : (पास जाकर) क्या वात कठिन है जनाव !

रसिक . यही वर्षा-वज्र-विजली की वात।

श्रीश : अरे विपिन, इससे भी ज्यादा कठिन वात सुनना चाहते हो तो पूर्ण

के पास जाओ।

विपिन कठिन बात का मुझे कोई खास शौक नही है भैया !

श्रीश : युद्ध करने की अपेक्षा सधि करने की विद्या ज्यादा कठिन होती है—तुमको वही आती है। दुहाई है तुम्हारी, पूर्ण को ज़रा ठडा कर आओ। मैं वल्कि तव तक रसिकवावू से वर्षा-वज्र-विजली की चर्चा कर लूँ।

(विपिन का प्रस्थान)

रसिकवावू, उस दिन आपने जिनका नाम नृपवाला वताया था न, वे—वे—उनके वारे में कुछ विस्तार से वताइए ! उस दिन पल-भर को मुझे उनके मुख पर एक ऐसा स्निग्ध भाव दिखाई दिया कि उनके वारे मे मेरा कौतूहल किसी तरह कम नही होता।

रसिक : विस्तार से वताने पर तो कौतूहल और भी वढ़ जायगा। ऐसा कौतूहल 'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'। मैं तो उन्हे इतने दिनो से जानता हूँ, पर मेरे लिए भी उनके कोमल हृदय का वह स्निग्ध मधुर भाव 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति'।

श्रीश · अच्छा वे—मैं नृपवाला के ही वारे मे पूछ रहा हूँ—

रसिक : सो तो मैं अच्छी तरह समझता हूँ।

श्रीश · तो वे—लेकिन पूछूँ भी तो क्या। उनके वारे में कुछ-न-कुछ बताइए—कल क्या कह रही थी, आज सवेरे क्या कर रही थी, चाहे जैसी सामान्य वात हो, आप वताइए, मैं सुनना चाहता हूँ।

रसिक : (श्रीश का हाथ पकडकर) वड़ी खुशी हुई श्रीशवावू, आप सचमुच भावुक है—आपने तो उन्हे पल-भर को ही देखा था, फिर भी आप यह कैसे जान गए कि उनके बारेमे कोई भी वात तुच्छ नही है। वे अगर कहे, रसिकवावा, जरा लालटेन की वत्ती तो उकसा दो, तो भी मुझे ऐसा लगता है मानो कोई नई वात सुनी हो, आदि-कवि के पहले अनुष्टुप छन्द की भाँति। क्या कहूँ श्रीशवावू, आप शायद सुनकर हँसेगे, उस दिन कमरे मे पहुँचकर देखा, नृपवाला सुई मे डोरा डाल रही है, गोद में तकिए का गिलाफ पड़ा है। मुझे लगा, मानो एक अद्‌भुत दृश्य हो। न जाने कितनी बार कितने दर्जियो की दुकानों के सामने से निकला हूँ, कभी आँख

उठाकर भी नही देखा, लेकिन—

श्रीश : अच्छा रसिकबाबू, वे क्या खुद अपने हाथो से घर का काम-काज करती है।

(शैलबाला का प्रवेश)

शैलबाला : रसिकबाबा से क्या सलाह कर रहे है ?

रसिक : कुछ नही, बड़ी मामूली बातो की चर्चा चल रही है।

चन्द्र : सभा की बैठक का समय हो चुका है, अब और देर करना उचित नही। पूर्णबाबू, कृपि-विद्यालय के बारे में तुमने आज जो प्रस्ताव रखने की बात कही थी वह शुरू करो।

पूर्ण : (खड़े होकर घड़ी की चैन हिलाते-हिलाते) आज—आज—

(खासता है)

रसिक : (पास बैठकर धीमे से) आज इस सभा को—

पूर्ण : आज इस सभा को—

रसिक : जो नवीन सौन्दर्य और गौरव मिला है—

पूर्ण : जो नवीन सौन्दर्य और गौरव मिला है—

रसिक : सबसे पहले मैं उसके प्रति अभिनन्दन प्रकट किये बिना नही रह सकता।

पूर्ण : सबसे पहले मैं उसके प्रति अभिनंदन प्रकट किये बिना नहीं रह सकता।

रसिक : (धीमे से) कहते जाइए पूर्णबाबू !

पूर्ण : उसके प्रति अभिनन्दन प्रकट किये बिना नही रह सकता।

रसिक : डर की क्या बात है पूर्णबाबू, कहते जाइए।

पूर्ण : जो नवीन सौन्दर्य और गौरव (खासी)—जो नवीन सौन्दर्य (फिर खांसी)—अभिनदन—

रसिक : (उठकर) सभापति महोदय, मेरा एक निवेदन है। पूर्णबाबू आज सभा में सबसे पहले आए थे। उनकी तबियत ठीक नहीं है, फिर भी वे उत्साह का संवरण न कर सके। आज हमारी सभा का प्रथम अरुणोदय है, जिसे देखने के लिए पक्षी प्रत्यूप मे ही नीड़ का परित्याग करके निकल पड़ा था, किन्तु देह रुग्ण होने के कारण कंठ मे पूर्ण हृदय के आवेग को अभिव्यक्त करने की शक्ति नही है—

अतएव आज हमे उनको छुट्टी दे देनी चाहिए। एव आज इस नव-प्रभात मे जिन अरुणप्रभा का स्तव-गान करने के लिए वे खड़े हुए थे उनसे भी मैं इस अवरुद्ध-कण्ठ भक्त की ओर से क्षमा की प्रार्थना करता हूँ। पूर्णवावू, आज वल्कि अपनी सभा का काम बंद रहे सो भी अच्छा, पर ऐसी हालत मे मैं आपको आज कोई प्रस्ताव नही रखने दूंगा। सभापति महोदय, क्षमा करेंगे। और हमारी सभा को जो अपनी प्रभा द्वारा आज सार्थकता प्रदान करने आई है, क्षमा तो उनके करुण हृदय का जाति-सुलभ सहज धर्म है ही।

चंद्र : मैं जानता हूँ, कुछ समय से पूर्णवावू की तवियत गडवड़ है। ऐसी दशा मे हम उन्हे कष्ट नही दे सकते। खास तौर से तव जव अवलाकातवावू ने घर वैठे-वैठे ही अपनी सभा का काम काफी आगे वढा दिया है। अव तक भारतवर्ष में कृपि के सबध मे सरकार की ओर से जितनी रिपोर्टे निकली है वे मैंने उनको दे दी थी—उनमें से उन्होने खाद-सबधी अशो का एक सक्षिप्त सकलन तैयार किया है—उसके आधार पर उन्होने जनसाधारण के लिए आसान भापा मे एक पुस्तिका तैयार करना भी स्वीकार कर लिया है। वे जिस प्रकार उत्साह और कुशलता से सभा के काम मे योग दे रहे है उसके लिए हम उन्हे वहुत-वहुत धन्यवाद देते है। विपिनवावू ने यूरोप के छात्रावासो की नियमावली और कार्यप्रणाली के सकलन का भार लिया था, और श्रीशवावू ने इस वात का वचन दिया था कि वे लन्दन मे दान द्वारा चलने वाली विविध परोपकारी संस्थाओ की सूची तैयार करेंगे और उनके वारे मे एक निवध लिखेंगे। शायद वे अभी उसे पूरा नही कर पाए। मैं एक प्रयोग मे लगा हुआ हूँ—सभी जानते है, अपने देश मे वैलगाड़ी इस प्रकार वनती है कि उसके पीछे के भाग पर जोर पडते ही वह ऊपर उठ जाती है और मवेशी के गले मे फदा लग जाता है, तिस पर अगर किसी कारण से मवेशी गिर पड़े तो वोझे समेत गाड़ी का सारा भार उसकी गर्दन पर आ पड़ता है—मैं इसीका प्रतिकार करने के लिए कोई युक्ति सोचने मे लगा हूँ—आशा करता हूँ कि मुझे सफलता मिलेगी। हम लोग

मुँह से तो गो जाति के सम्बन्ध में दया प्रकट करते रहते हैं, पर मवेशियो के हजारो अनावश्यक कष्ट हम रोज बड़ी उदासीनता से देखते रहते हैं। मेरे मत मे इस मिथ्या और कोरी भावुकता से बढकर लज्जाजनक बात ससार मे और कोई नही—अगर हम अपनी सभा द्वारा इसका कोई प्रतिकार कर सकें तो हमारी सभा धन्य हो जाय। मैंने रात में गाड़ीवान टोले में जाकर मवेशियो की हालत के बारे मे चर्चा की है। मवेशियो पर व्यर्थ का अत्याचार स्वार्थ और धर्म दोनों के विरुद्ध है, हिन्दू गाड़ीवानो को यह समझाना बहुत कठिन नही मालूम पडता। इस बारे में मैं गाड़ीवानो की एक पचायत कराने की चेष्टा मे हूँ। कुमारी निर्मला आकस्मिक दुर्घटना की आशुचिकित्सा और रोगी की देख-भाल के बारे मे डॉ० रामरतन महोदय से नियमित शिक्षा ले रही हैं—भ जनो मे इस शिक्षा का प्रचार करने के लिए वे दो-एक अत.-पुरो में जाकर शिक्षा-दान के काम मे नियुक्त भी हो गई हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य के स्वतंत्र और विशिष्ट प्रयास से अपनी यह क्षुद्र कुमार-सभा साधारण जनो के अनजाने ही धीरे-धीरे अद्भुत सफलता लाभ करता रहेगी इसमे मुझे तनिक भी सन्देह नही।

श्रीश : अरे विपिन, मैंने तो अभी अपना काम शुरू भी नही किया।

विपिन : मेरी भी यही हालत है।

श्रीश : लेकिन अब करना होगा।

विपिन : मुझे भी करना पडेगा।

श्रीश : कुछ दिनो के लिए बाकी सब चर्चा बंद किये बिना काम नही चलेगा।

विपिन : मैं भी यही सोचता हूँ।

श्रीश : लेकिन अबलाकातबाबू को धन्य कहना पड़ेगा—वे कब अपना काम करते रहते हैं, कुछ पता ही नही चलता।

विपिन : यही तो आश्चर्य की बात है। वैसे लगता है मानो उनकी उदासी किसी विशेष कारण से है।

श्रीश : चलूँ, उनसे जरा बातचीत कर आऊँ।

(शैल के पास जाता है)

पूर्ण : रसिकबाबू, आपको किस प्रकार धन्यवाद दूँ।

रसिक : कुछ मत कहिए, मैं यो ही समझ लूंगा। लेकिन सब मेरे-जैसे नही है पूर्णबाबू—अंदाज से नही समझेंगे, कहना-सुनना पड़ेगा।

पूर्ण : आपने मेरे मन की बात समझ ली है रसिकबाबू—आपको पाकर मैं जी उठा हूँ। मै जो कहना चाहता हूँ उसे ओठों पर लाने मे भी सकोच लगता है। आप मुझे सलाह दीजिए, मैं क्या करूँ।

रसिक : सबसे पहले उनके पास जाकर कोई-न-कोई बात छेड दीजिए।

पूर्ण . वह देखिए, अबलाकांतबाबू फिर उनके पास जा बैठे है—

रसिक तो क्या हुआ, वे उन्हे चारो ओर से घेरकर तो नही खड़े है, अबलाकांत को व्यूह की भाँति भेद करके तो जाना नही है। आप भी एक तरफ जाकर खड़े हो जाइए।

पूर्ण · अच्छा, देखता हूँ।

शैलबाला (निर्मला से) मुझे इतना मत बढाइए—आप तो मुझसे भी बहुत ज्यादा काम कर रही है—लेकिन बेचारे पूर्णबाबू के लिए मुझे बडा दु ख है। आप आएँगी इसीलिए वे आज विशेष उत्साह से आए थे—पर उसे प्रकट न कर सकने के कारण शायद वे बहुत-बहुत उदास हो गए है। आप अगर उनको—

निर्मला · आप मुझे अपने बाकी सदस्यो से थोड़ा अलग करके देखते हैं इससे मुझे बड़ा संकोच अनुभव होता है—मुझे आप सदस्य मान-कर सबके साथ ही गिनिए, महिला मानकर अलग मत रखिए।

शैलबाला . आपने महिला के रूप मे जन्म लिया है, यह सुविधा भला हमारी सभा कैसे छोड़ सकती है। हमारे साथ घुल-मिलकर रहने की बजाय आपके अलग रहने से ज्यादा काम होगा। जो व्यक्ति नाव को गुण द्वारा खीचकर आगे बढाता है उसे नाव से थोडी दूर रहना पड़ता है। चन्द्रबाबू हमारी नौका के कर्णधार है इसलिए वे भी हमसे कुछ दूरी पर और कुछ ऊँचाई पर हैं। आपको गुण से आक-र्षण करना है इसलिए आपको अलग रहना पड़ेगा। हम सब तो पतवार चलाने वालो मे है।

निर्मला कर्म और भावना मे तो आप भी इन सबसे अलग लगते है। एक ही दिन मे मेरा यह विश्वास दृढ हो गया है कि सभा मे आप मेरे

प्रधान सहायक होंगे।

शैलवाला . यह तो मेरा सौभाग्य है। आइए, आइए पूर्णबाबू, हम लोग आपकी ही बात कर रहे थे। बैठिए।

श्रीश : चलिए, अबलाकांतबाबू, आपके साथ बहुत-सी बाते करनी है। (अलग ले जाकर) आप दोनो ने आज सभा के तीनो पुराने सदस्यो को लज्जित कर दिया है। ठीक ही तो है—पुरातन में प्राण सचार करने के लिए ही नूतन की आवश्यकता होती है।

शैलवाला और हाल की कटी लकडी मे आग सुलगाने के लिए पुरानी धरी लकडी की जरूरत पड़ती है।

श्रीश खैर इसका फैसला तो बाद मे होगा, लेकिन मेरा वह रूमाल? उसका हरण करके मैंने अपना परलोक तो नष्ट कर ही दिया है, अब उसे भी गँवा बैठूं, यह नही हो सकता। (पाकिट से निकालकर) मैं ये एक दर्जन रेशमी रूमाल लाया हूँ, इन्हे बदले मे ले लीजिए। यह उस रूमाल का उचित मूल्य है, यह नही कहता—उसका उपयुक्त मूल्य देने के लिए तो चीन, जापान को उजाड़ना पडेगा।

शैलवाला : जनाब आपकी यह चालाकी समझने लायक बुद्धि विधाता ने मुझे भी दी है। और यह उपहार मेरे लिए आया भी नही है, जिनके रूमाल का आपने हरण किया है, मेरे बहाने उन्हीको—

श्रीश : अबलाकातबाबू, लगता है भगवान् ने आपको बुद्धि तो काफी दी है लेकिन दया का अश कुछ कम दिया है—अगर इस अभागे को वह रूमाल लौटा दे तो यह कलक पूरी तरह दूर हो जाय।

शैलवाला . अच्छी बात है, मैं दया का परिचय देता हूँ—लेकिन आपने सभा के लिए जो निबन्ध लिखने का वचन दिया है वह लिख डालना पड़ेगा।

श्रीश : ज़रूर लिखूंगा—रूमाल वापस मिलते ही काम में मन लग जायगा—फिर और सारे सधान छोड़कर सिर्फ सत्य का अनुसंधान करता रहूँगा।

(कमरे में अन्यत्र)

विपिन : समझे रसिकबाबू, गीतो के निर्वाचन मे उनकी कुशलता देखकर मैं

चकित हो गया हूँ। जिन्होने ये गीत रचे हैं, हो सकता है उनमें कवित्व हो, पर इन गीतो के निर्वाचन मे जो कवित्व प्रकट हुआ है उसमे वड़ी कोमलता है।

रसिक : बिलकुल ठीक, निर्वाचन की क्षमता ही असली क्षमता है। लता मे फूल तो अपने-आप खिलते हैं लेकिन जो व्यक्ति माला गूँथता है निपुणता और सुरुचि तो उसीकी होती है।

विपिन : आपको वह गीत याद है ?

गीत—२८

मेरी नाव अचानक डूबी जा रही है, न जाने किस पत्थर की ठोकर खाकर। नई चाल की नई नाव थी, मैंने इसीलिए उसे गहरे जल में उतारने की बजाय कौतुकवश किनारे पर ही चलाया था। वहाव में बहती नाव पर मै अकेला कर्णधार वनकर आ रहा था, मधुर मृदुल वायु पाल में खेल रही थी। मै मन-ही-मन मगन था, मेघहीन गगन था, आशा करता था कि मेरी नाव फूलवन पर जाकर लगेगी। तभी अचानक मेरी नाव डवने लग गई।

रसिक : डूब जाय, क्यो विपिनबाबू ?

विपिन : डूबने दो, लेकिन कहाँ डूबी है जरा इसका पता रहना चाहिए। अच्छा रसिकबाबू, उन्होने यह गीत अपनी कापी मे क्यों लिख रखा है ?

रसिक : स्त्री के हृदय का रहस्य तो विधाता भी नही जानते, ऐसा एक प्रवाद प्रचलित हैं, फिर रसिकबाबू क्या चीज है।

श्रीश : (पास आकर) विपिन, तुम ज़रा चन्द्रबाबू के पास जाओ। सचमुच, हम लोगो ने अपने कर्त्तव्य मे ढील डाल रखी है—उनसे कुछ चर्चा करे तो उन्हे खुशी होगी।

विपिन : अच्छी बात है।

(प्रस्थान)

श्रीश : हाँ, आप वह सिलाई की बात कर रहे थे न—वे शायद खुद अपने ही हाथो घर का सारा काम करती है।

रसिक : हाँ।

श्रीश : आपने शायद उस दिन पहुँचकर देखा था कि उनकी गोद में तकिए का गिलाफ पड़ा है और वे—

रसिक : सिर झुकाए सुई मे डोरा पिरो रही थी।

श्रीश : सुई में डोरा पिरो रही थी। शायद उस वक्त नहाकर आई थी।

रसिक : उस समय तीन बजे होगे।

श्रीश : तीन बजे थे। वे शायद अपनी खाट पर बैठकर—

रसिक : नही खाट पर नही—बरामदे मे चटाई बिछाकर—

श्रीश : बरामदे मे चटाई बिछाकर सुई मे डोरा पिरो रही थी—

रसिक : हाँ, सुई मे डोरा पिरो रही थी। (स्वगत) मेरी तो नाक में दम हो गया।

श्रीश : मुझे मानो तस्वीर की तरह स्पष्ट दिखाई पड रहा है—पैर पसारे हैं, सिर झुका है, बिखरे हुए बाल मुंह पर आ पड़े हैं—तीसरे पहर की धूप—

विपिन : (पास आकर) चंद्रबाबू तुमसे उस निबंध के बारे मे बात करना चाहते हैं।

(श्रीश का प्रस्थान)

रसिक : (स्वगत) और कब तक बकता रहूँ।

(अन्यत्र)

निर्मला : (पूर्ण से) आपकी तबियत शायद आज ठीक नही है।

पूर्ण : नही, ठीक ही है—हाँ जरा कुछ योंही हो गई है—कोई खास बात नही—बस योही समझिए—वैसे ठीक ही है (खाँसी) आपकी तबियत तो अच्छी है न ?

निर्मला : हाँ।

पूर्ण : आप, मैं पूछ रहा था, आप—आप—आपको ये कैसा लगता है ये—मिल्टन का ऐरोपैजेटिका। वह हमारे एम० ए० के कोर्स में है न, वह आपको अच्छा लगता है न ?

निर्मला : वह मैंने नही पढ़ा।

पूर्ण : नही पढा ?

(मौन)

बात यह है कि आप––इस बार कितनी गर्मी पड़ रही है––
मैं एक वार रसिकवावू––मुझे रसिकवावू से कुछ काम है।

(निर्मला के पास से चला जाता है)

(कमरे में अन्यत्र)

विपिन : अच्छा रसिकवावू, आपको क्या ऐसा लगता है कि उन्होने वह गीत किसी विशेष उद्देश्य से लिख रखा था?

रसिक : हो भी सकता है। आपने तो मुझे भी असमंजस मे डाल दिया। इसका तो मुझे खयाल ही नही आया था।

विपिन : तरी आमार हठात् डुबे याय
कोन् पाथारे कोन् पाषाणेर घाय।
(न जाने किस पत्थर से टकराकर मेरी नाव अचानक डूबी जा रही है।)
अच्छा रसिकवावू, यहाँ नाव का असली मतलव क्या है?

रसिक . हृदय से मतलव है, भला इसमे क्या सदेह है। पर वह पत्थर कौन-सा है और कहाँ है यह जरा सोचने की वात है।

पूर्ण : (पास आकर) विपिनवावू, माफ करें––रसिकवावू से मुझे एक वात करनी है––

विपिन : अच्छी वात है, आप कीजिए, मैं चला।

(रसिक के पास से चला जाता है।)

पूर्ण : मुझ-जैसा मूर्ख इस संसार मे नही है रसिकवावू।

रसिक : ढेरो लोग आपसे भी ज्यादा मूर्ख हैं जो अपने-आपको बुद्धिमान समझते है––जैसे मैं।

पूर्ण : अगर जरा एकांत मिले तो आपसे वहुत-सी वातें करनी हैं। सभा खत्म होने पर आज रात को क्या कुछ मौक़ा दे सकेंगे?

रसिक ' अच्छी वात है।

पूर्ण : आज गजव की चाँदनी है। गोल सरोवर के किनारे––ठीक है न!

रसिक . (स्वगत) मार डाला।

श्रीश : (पास आकर) अच्छा, पूर्णवावू वात कर रहे है शायद। कोई वात

नही, इस समय रहने दीजिए। रात मे आपको फुरसत होगी रसिकबाबू?

रसिक . हो तो सकती है।

श्रीश : तो फिर कल की तरह—ठीक है न ? आपने कल देख लिया न, घर की वजाय रास्ते मे चर्चा अच्छी जमती है।

रसिक : जमती क्यो नही। (स्वगत) सर्दी जमती है, खाँसी जमती है, गले की आवाज दही की तरह जम जाती है।

(श्रीश का प्रस्थान)

पूर्ण : अच्छा रसिकबावू, अगर आप होते तो किस तरह वात शुरू करते ?

रसिक . शायद कहता—उस दिन एक वैलून उडा था, आपके घर की छत से दिखाई पड़ा था क्या ?

पूर्ण : और अगर वे कहते हाँ—

रसिक : तो मैं कहता, मन को उड़ने का अधिकार दिया है इसीलिए ईश्वर ने आदमी को पंख नही दिए—शरीर को वाँधकर विधाता ने मन का आग्रह और भी वढा दिया है—

पूर्ण : समझ गया रसिकबावू—कमाल है—इससे तो वहुत-सी बातें निकल सकती है।

विपिन : (पास आकर) पूर्णवावू से बातें हो रही हैं ? तो फिर रहने दीजिए, वह जो अपनी वातचीत थी, वह आज रात को होगी, ठीक है न ?

रसिक : यही अच्छा है।

विपिन : चाँदनी रात मे सड़क पर मजे से टहलते-टहलते—है न !

रसिक : खूब मज़े से। (स्वगत) लेकिन असली मजा तो उसके बाद आयगा।

(अन्यत्र)

शैलबाला : (निर्मला से) अच्छी वात है, आप चाहे तो मैं भी इस विषय मे चर्चा कर देखूंगा। डॉक्टरी की मुझे थोड़ी-वहुत ही जानकारी है—कोई खास नही—लेकिन मेरे योगदान से आपको उत्साह मिले तो मैं तैयार हूं।

पूर्ण : (पास आकर) उस दिन एक वैलून उड़ा था, क्या आपको अपनी छत से दिखाई दिया था ?

निर्मला : बैलून ?

पूर्ण : हाँ, वही बैलून (सब चुप रह जाते हैं)। रसिकबाबू कह रहे थे शायद आपको दीखा हो—मुझे माफ करें—आपकी बात मैंने बीच ही में काट दी—मैं बड़ा अभागा हूँ।



पंचम अंक

पहला दृश्य

अक्षय का घर

(अक्षय और पुरबाला)

अक्षय : देवी, अभय दो तो एक सवाल पूछूँ।

पुरबाला : पूछो।

अक्षय : श्रीअगो मे कृशता का तो कोई लक्षण नहीं दीख रहा है।

पुरबाला : श्रीअग कृश होने तो गए नही थे पश्चिम की सैर को।

अक्षय : तो क्या विरह-वेदना नाम की चीज़ महाकवि कालिदास के साथ ही सती हो गई।

पुरबाला : उसके प्रमाण तो तुम हो। तुम्हारे स्वास्थ्य मे भी तो कोई विशेष अतर नही दीखता।

अक्षय : होता कैसे ! तुम्हारी तीनो बहनें मिलकर लगातार मेरी कृशता निवारण करती रहती थीं—विरह किसको कहते हैं, उन्होने जानने ही नही दिया।

गीत—२९

मैंने तो प्रण किया था कि विरह में प्राण त्याग दूँगा। अरे! कौन थीं तुम, जिन्होने मुझे बाहुओं में बाँधकर वारण कर दिया। मै तो सोचता था कि आँसुओं की अथाह धारा में डूब जाऊँगा। न जाने किसकी स्वर्ण-तरी ने मुझे पार लगा दिया।

प्रिये, शायद कामदेव बाबा विश्वनाथ के डर से काशीधाम मे पैर नही रख पाते।

पुरवाला : हो सकता है, पर कलकत्ता मे तो उनका आवागमन बराबर होता रहता है।

अक्षय : सो तो है—कम्पनी का नियन्त्रण वे नही मानते, मुझे इसका प्रमाण मिल चुका है।

(नृपबाला और नीरबाला का प्रवेश)

नीरबाला : जीजी !

अक्षय . अब जीजी के अलावा दूसरी बात नही, अकृतज्ञ ! जीजी जब विरह-ज्वाला मे तपकर सोने की कान्ति धारण कर रही थी तब तुम सबको किसने सुशीतल रखा था।

नीरबाला : सुन रही हो जीजी ! कैसा सफेद झूठ है ! जितने दिन तुम नही थी हमे कभी बुलाकर पूछा तक नही—बस बैठे-बैठे चिट्ठी लिखते रहते थे और टेबिल पर पैर रखकर हाथ मे किताब लिये पढते रहते थे। अब तुम आ गई हो तो हमारे साथ गाना-बजाना होगा, हँसी-मज़ाक होगा। ऐसा दिखायँगे मानो—

नृपबाला : जीजी, तुमने भी तो हमे इतने दिनो मे एक भी चिट्ठी नही लिखी।

पुरबाला · मेरे पास समय ही कहाँ था भई ? दिन-रात माँ की सेवा मे लगे रहना पड़ता था।

अक्षय : अगर कहती कि तुम्हारे जीजाजी के ध्यान मे डूबी रहती थी तो क्या लोग निंदा करते।

नीरबाला : उससे जीजाजी का दिमाग और भी चढ जाता। मुखर्जीबाबू, तुम अपनी बैठक मे जाओ न। इतने दिनो बाद जीजी आई है, हम क्या उनसे जरा बातचीत भी नही कर सकते ?

अक्षय : नृशसे, विरह-ज्वाला से दग्ध अपनी जीजी को फिर विरह मे जलाना चाहती है। तुम्हारे जीजाजी रूपी श्यामवर्ण मेघ, मिलन-रूपी मूसलाधार वर्षा द्वारा प्रिया के हृदयरूपी लतानिकुज मे आनन्दरूपी किशलयोद्गम करके प्रेमरूपी वर्षा मे कटाक्षरूपी बिजली—

नीरबाला : और बकबक-रूपी मेंढक के कलरव से—

(शैलबाला का प्रवेश)

अक्षय : आओ आओ—उत्तमाधममध्यमा, जब तक ये तीनों साली न हो तब तक मैं—

नीरबाला : उत्तम-मध्यम नही कर पाता।

शैलबाला : (नृप और नीर से) तुम ज़रा जाओ तो भई, हमे कुछ बातें करनी है।

अक्षय : क्या बात करनी है, समझी नीरू। भगवद्‌भजन न समझ बैठना।

नीरबाला : अच्छा-अच्छा फिजूल की बक-बक रहने दो।

(नृप और नीर का प्रस्थान)

शैलबाला : जीजी, तो क्या नृप और नीर के लिए माँ ने पात्र ठीक कर लिए है।

पुरबाला : हाँ, बात एक तरह से तय हो चुकी है। सुनती हूँ लडके अच्छे ही हैं—वे लोग लडकियो को देखकर पसन्द कर लें तो बात पक्की हो जाय।

शैलबाला : और अगर पसन्द न करें तो ?

पुरबाला : तो उनका दुर्भाग्य।

अक्षय और मेरी सालियो का सौभाग्य।

शैलबाला : और अगर नृप-नीरू पसन्द न करे तो ?

अक्षय : तो मैं उनकी रुचि की प्रशसा करूँगा।

पुरबाला : 'पसन्द न करें' के क्या मतलब। तुम लोग हर बात मे ज्यादती करते हो। स्वयवर के दिन गए। लड़कियो को पसन्द नही करना पड़ता—जो भी पति हो वे उसीको प्यार करने लगती है।

अक्षय : अगर ऐसा न होता तो तुम्हारे इस जीजाजी की न जाने कैसी दुर्दशा होती, शैल।

(जगत्तारिणी का प्रवेश)

जगत्तारिणी · बेटा अक्षय, तो फिर उन लड़को को खबर भिजवानी होगी। उन्हे तो हमारे घर का पता है नही।

अक्षय . ठीक तो है माँ, रसिकबाबा को भेज दिया जाय।

जगत्तारिणी : फूट गए करम। रसिकबाबा की भली चलाई। उनका क्या ठीक है। न जाने किसकी जगह किसको ले आयें।

पुरबाला : खैर तुम फिक्र न करो माँ, मैं लड़को को बुलाने का प्रबन्ध किये देती हूँ।

जगत्तारिणी : पुरी बेटी, तेरे ध्यान दिये बिना काम थोड़े ही चलेगा। आजकल के लड़के ठहरे, उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, कैसा नही, मैं तो कुछ भी नही जानती।

अक्षय : (अलग से) पुरी के हाथ मे यश है। अपनी माँ के लिए उसने एक दामाद क्या जुटा दिया है, धाक जम गई है। आजकल के लड़के कैसे वश मे किये जाते हैं, यह विद्या—

पुरबाला : (अलग से) हुजूर क्या आजकल के लड़के है ?

जगत्तारिणी : बेटी तुम लोग सलाह करो, कायथ जीजी आकर बैठी हुई है, मैं जरा उन्हे विदा कर आऊँ।

शैलबाला : माँ, तुम जरा सोचकर तो देखो—अभी तुममे से किसी ने लड़को को देखा तक नही, अचानक—

जगत्तारिणी : सोचने-सोचते मेरी तो जिन्दगी बीत गई—अब और नही सोच सकती—

अक्षय : सोच-विचार तो बाद मे फुरसत से कर लेंगे। अभी काम तो होने दो।

जगत्तारिणी : बताओ बेटा, ज़रा इस शैल को तो समझाकर बताओ।

पुरबाला : तू यो ही फिक्र करती है शैल,—माँ ने जब ठान ही ली है तो अब उन्हे कोई टस से मस नही कर सकता। मैं तो भई, ब्रह्म-लेख मानती हूँ—जिसके साथ जिसका योग होता है, चाहे जितना सोच-विचार करो, होकर ही रहता है।

अक्षय : बिलकुल ठीक—ऐसा न होता तो जिसके साथ जिसका योग होना उसके साथ न होकर और किसी के साथ होता।

पुरबाला : न जाने कैसे तर्क करते हो, तुम्हारी आधी बात तो समझ में ही नही आती।

अक्षय : इसका कारण है कि मैं अबोध हूँ।

पुरबाला : अच्छा जाओ, अब नहाने जाओ, दिमाग ठडा कर आओ !

(प्रस्थान)

(रसिक का प्रवेश)

शैलवाला : रसिकवावा, सव सुन लिया न ? आफत आ गई है ।

रसिक : आफत कैसी ! कुमार-सभा का कौमार्य भी रह गया, नृप-नीरू भी पार लग गई, सव तरफ कुशल-ही-कुशल है ।

शैलवाला : किसी भी तरफ कुशल नही ।

रसिक : खैर, कम-से-कम इस वूढ़े की तो कुशल है—दो-दो जवानो के साथ मिलकर रात के समय रास्ते में खड़े होकर मुझे श्लोक तो नही झाड़ने पड़ेंगे ।

शैलवाला : मुखर्जीवावू, तुम्हारे विना रसिकवावा पर कोई भी नियन्त्रण नही कर पाता । हमारी वात तो वे मानते ही नही ।

अक्षय : जिस उम्र मे वे तुम्हारी वात देव-वाक्य समझकर मान लेते, वह उम्र तो वीत चुकी है, इसीलिए भले आदमी को विद्रोह करने का साहस हो जाता है । खैर, मैं अभी ठीक किये देता हूँ । चलो तो रसिकवावा, वैठक में चलकर हुक्का लेकर जमा जाय ।

दूसरा दृश्य

विपिन का घर

(विपिन और गुरुदास)

(हाथ में तानपूरा लेकर विपिन वडे ही वेसुरे गले मे 'सा रे गा मा' का अभ्यास कर रहा है)

विपिन : भैया गुरुदास, तुम तो उस्ताद हो, मेरा यह काम तुम्हें करना ही पड़ेगा । इस कापी के सारे गीतों की धुनें वना दो । अभी-अभी जो गीत गाया था, खूव जमा । अगर कष्ट न हो तो एक वार और— मैं तो गीत के वोल लिखकर ही झूम उठा था, अव लगता है, वोल मानो मानसरोवर के कमल हो, जिन पर गीत साक्षात् वीणापाणि की तरह विराज रहा है । एक वार और सुना दो भैया—

गीत—३०

गुरुदास : हे सुन्दर, मै पथ के किनारे खड़ा तुम्हारी बाट देख रहा हूँ। प्राणों की वीणा के तारो पर धूल जम गई है। मेरे पास फूल ही नहीं हैं माला कैसे गूँथूँ ? मेरी वीणा में तो क्रन्दन का ही गान है, दूर से तुम्हें उसीके स्वर सुनाई पड़ेंगे। हे सुन्दर, दिन-पर-दिन बीतते जा रहे हैं। यह हृदय न जाने किस तृष्णा से मिटा जा रहा है। सूने घाट पर खड़ा-खड़ा समझ नही पाता क्या करूँ, वह रंगीन पाल वाली नौका न जाने कब आयगी ! न जाने मै कब सुधा के सागर में नाव खे पाऊँगा !

(नौकर का प्रवेश)

नौकर . कोई बाबू आए है।

विपिन : बाबू, कैसे बाबू ?

नौकर : कोई बूढे आदमी है।

विपिन : खोपड़ी गजी है ?

नौकर : है।

विपिन · (तानपूरा रखकर) लिवा ला, फौरन लिवा ला। अरे कोई है, हुक्का दे जा ! बैरा कहाँ चला गया, पखे वाले से कह, पंखा खीचे। और देख, चट से दो-चार मीठे पानो का दौना तो खरीदकर ले आ। देर मत करना और आध सेर बरफ भी ले आना समझा।

(नौकर का प्रस्थान)

(पैरो की आहट सुनकर) आइए रसिकबाबू !

(वनमाली का प्रवेश)

विपिन · रसिकबाबू—अरे यह तो वह वनमाली है।

वनमाली . जी हॉ, मेरा नाम है श्री वनमाली भट्टाचार्य।

विपिन : परिचय की जरूरत नही। मै ज़रा जरूरी काम मे लगा हूँ।

वनमाली . उन लड़कियो को तो अब और नही रोका जा सकता—पात्र भी बहुत-से आ रहे हैं—

विपिन : वाह-वाह, बड़ी खुशी की बात है—दे डालिए, दे डालिए—

वनमाली : लेकिन उनके उपयुक्त तो आप ही है।

विपिन : देखिए वनमालीबाबू, अभी आपको मेरा पूरा परिचय नही मिला

——अगर एक बार मिल जाय तो आपको मेरी उपयुक्तता के बारे मे भयानक सदेह हो जायगा।

वनमाली : तो फिर मैं चलूँ, आप काम मे लगे है, फिर कभी आऊँगा।

विपिन : (तानपूरा सँभालकर) सारेगा रेगामा गामापा——

(श्रीश का प्रवेश)

श्रीश : अरे विपिन, यह क्या। कुश्ती छोड़कर गाना शुरू कर दिया ? अक्खाह, गुरुदास है।

विपिन . उस्तादजी, अब आज छुट्टी दीजिए। क्या करूँ भाई गाना सीखे बिना तो तुम्हारे सन्यासी-दल मे जगह मिलेगी नही। गुरुदास को गुरु बनाया है——इनसे नवीन संन्यास-धर्म की दीक्षा ले रहा हूँ।

श्रीश : सो कैसे ?

विपिन : जब रस इकट्ठा हो जाता है तभी तो त्याग आसान होता है। बादल जब पानी से भर जाते है तभी वर्षा करते हैं।

श्रीश : रहने दो अपनी नई फिलॉसफी, कुमारसभा के लिए निबंध मे हाथ लगाया कि नही ?

विपिन . नही भैया, अभी तो उसमे हाथ नही लगा पाया। तुम्हारा निबध पूरा हो गया क्या ?

श्रीश : नही, मैंने भी हाथ नही लगाया। (कुछ क्षणों तक चुप रहकर) नही भैया, यह बड़ी अनुचित बात है। हम मानो धीरे-धीरे अपने सकल्प से दूर होते जा रहे हैं।

विपिन बहुत-से सकल्प मेढक की दुम की तरह होते हैं, परिणति के साथ-साथ अपने-आप अतर्धान हो जाते हैं। मान लो अगर दुम बची रहे और मेढक सूख जाय, तो क्या हो। एक दिन सकल्प किया था, इसलिए उसकी खातिर सूख-सूखकर मरते रहे, इसके क्या माने ?

श्रीश . मैं बताऊँ ? बहुत-से सकल्प ऐसे होते है जिनके लिए सूख-सूखकर मर जाना भी श्रेयस्कर है। बाँझ पेड की तरह हमारी डालो मे मानो नित्यप्रति अतिरिक्त परिमाण मे रस सचार हो रहा है और सफलता की आशा मानो नित्यप्रति दूर होती जा रही है। मैंने भूल

की था भैया विपिन––हर बड़े काम मे तपस्या की जरूरत होती है। अपने-आपको भाँति-भाँति के भोगो से वचित किये बिना चारो ओर से प्रत्याहार कर समेटे बिना मन को किसी भी महान् कार्य मे पूरी तौर से नही लगाया जा सकता—अब से मैं रस-चर्चा एकदम छोड़कर कठिन काम मे हाथ लगाऊँगा—यही मेरी प्रतिज्ञा है।

विपिन : मैं मानता हूँ। लेकिन हर तिनके में तो धान नही फलता––सूखकर मरे भी तो बेकार, फल नही फलेगा। कुछ दिनो से मुझे लग रहा है कि हम लोगो ने जो संकल्प किया है उसे हम सफल नही कर सकते––अतएव हम अपने स्वभाव के अनुकूल कोई दूसरा रास्ता ग्रहण कर लें, यही उचित है।

श्रीश : फालतू बात है। विपिन, अपना तम्बूरा छोड़ो—

विपिन : अच्छा छोड़ दिया, इससे दुनिया का कोई नुकसान नही होगा।

श्रीश . अपनी सभा फिर से चद्रबाबू के घर ले चले—

विपिन : अच्छी बात है।

श्रीश . हम दोनो मिलकर रसिकबाबू को थोड़ा सयत रखने की कोशिश करे।

विपिन : कही वे हमी दोनो को असंयत न कर डाले।

गुरुदास ' अगर आपको सयम की चर्चा छेड़नी है तो फिर मेरी क्या जरूरत है।]

विपिन . वाह, तब तो और भी जरूरत है। धूप जितनी तेज होगी पानी की माँग उतनी ही बढेगी। इस दुस्समय में तुम मेरा त्याग मत कर बैठना—साँझ-सवेरे दर्शन देते रहना। अगर इसी बीच वह गीत तैयार हो जाय तो फिर आज शाम को—ठीक है न ?

गुरुदास . अच्छा यही सही।

(प्रस्थान)

(नौकर का प्रवेश)

नौकर : कोई बूढे बाबू आए है।

विपिन : बूढे बाबू ? मार डाला। वनमाली फिर आ गया।

श्रीश : वनमाली ? वह तो अभी थोड़ी देर पहले मेरे पास आया था।

विपिन : अरे सुन, बूढ़े को टरका दे।

श्रीश : तुम टरका दोगे तो वह फिर मेरे गले पड़ जायगा। इससे तो अच्छा है, लाओ, हम दोनों मिलकर उसे टरका दें। (नौकर से) बूढ़े को लिवा ला!

[नौकर का प्रस्थान]

(रसिक का प्रवेश)

विपिन : यह क्या, यह तो वनमाली नहीं है, ये तो रसिकबाबू हैं।

रसिक : जी हाँ—आपकी पहचान गज़ब की है—मैं वनमाली नहीं हूँ। "धीर समीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली—"

श्रीश : नहीं रसिकबाबू, ऐसी बातें मत कीजिए। हमने रस-चर्चा बंद कर दी है।

रसिक : सच, चलो जान बची।

श्रीश : बाकी सब चर्चा छोड़कर अब हम मन लगाकर कुमार-सभा के काम में जुट जायँगे।

रसिक : मेरी भी यही इच्छा है।

श्रीश : वनमाली नाम का एक बूढ़ा कुमारटोली के नीलमाधव चौधरी की दो कन्याओं के साथ हम लोगों के विवाह का प्रस्ताव लेकर हाज़िर हुआ था, हमने उसको उसी वक्त विदा कर दिया। ऐसी बातें हमें असंगत लगती हैं।

रसिक : मेरा भी यही हाल है। अगर वनमाली दो या दो से भी ज्यादा कन्याओं के विवाह का प्रस्ताव लेकर मेरे पास हाज़िर होता तो भी उसे खाली हाथ लौटना पड़ता।

विपिन : रसिकबाबू, कुछ जलपान करके जाइएगा।

रसिक : नहीं जनाब, आज रहने दीजिए। आप लोगों से दो-एक जरूरी बातें करनी थीं, लेकिन आपकी कड़ी प्रतिज्ञा सुनकर कहने का साहस नहीं होता।

विपिन : [आग्रह से] नहीं-नहीं, उससे क्या, अगर कोई बात करनी हो तो करेंगे क्यों नहीं।

श्रीश : आप हमें जितना भयंकर समझते हैं हम उतने थोड़े ही हैं। बात क्या ख़ास तौर पर मुझ से करनी है?

विपिन . अरे नही जी, उस दिन रसिकबाबू कह रहे थे कि उन्हे मुझीसे दो-एक बातो की चर्चा करनी हैं।

रसिक क्या होगा, जाने दीजिए !

श्रीश : अगर कहे तो आज रात गोल सरोवर के किनारे—

रसिक · नही श्रीशबाबू, माफ करे।

श्रीश · भैया विपिन, तुम ज़रा उस कमरे मे जाओ न, लगता है तुम्हारे सामने रसिकबाबू—

रसिक नही-नही, क्या जरूरत है।

विपिन : बल्कि रसिकबाबू, तीनतल्ले के कमरे मे चलिए—श्रीश थोडी देर यही बैठेगे।

रसिक नही-नही, आप दोनो ही बैठिए, मै चलता हूँ।

विपिन वाह, यह कैसे हो सकता है। पहले कुछ जलपान तो कर लीजिए।

श्रीश . हाँ, अब हम आपको नही छोडेगे। यह नही हो सकता।

रसिक · तो फिर कह ही डालूँ। आप नृपबाला, नीरबाला के बारे मे तो पहले ही सुन चुके है।

श्रीश : जरूर सुना है। तो अगर नृपबाला के बारे मे कुछ—

विपिन : नीरबाला का कोई विशेष सवाद हो तो—

रसिक उन दोनो के ही बारे मे बडी चिन्ता की बात आ पडी है।

दोनो अस्वस्थ तो नही है।

रसिक . उससे भी ज्यादा। उनका विवाह-सम्बन्ध—

श्रीश क्या कह रहे हैं रसिकबाबू। विवाह की तो कभी कोई बात नही उठी—

रसिक · बिलकुल नही—अचानक माँ ने काशी से लौटकर दो अकाल-कूष्माण्डों के साथ दोनो बेटियो का ब्याह तय कर दिया है—

विपिन यह तो किसी तरह नही हो सकता रसिकबाबू !

रसिक · जनाब, संसार मे जो बात अप्रिय होती है उसीकी सभावना ज्यादा होती है। फूल के पौधो की अपेक्षा ठूँठ ही ज्यादा होते है।

विपिन : तो क्या हुआ जनाब, ठूँठ को उखाडना होगा—

श्रीश . फूल का पौधा रोपना होगा—

रसिक . यह तो ठीक है, लेकिन कौन करता है जनाब !

श्रीश . हम लोग करेंगे। क्यो विपिन ?

विपिन · जरूर, जरूर।

रसिक . लेकिन करेंगे क्या ?

विपिन अगर कहे तो उन दोनो लडको को सडक पर—

रसिक समझ गया। उसकी कल्पना से ही शरीर पुलकित हो उठता है। लेकिन विधाता की कृपा से अपात्र नाम की वस्तु अमर होती है—दो जायँगे, दस और आ जायँगे।

विपिन इन दोनो को अगर छल-बल से कुछ दिन रोका जा सके तो सोचने का समय मिल जाय।

रसिक सोचने का समय तो बीतता जा रहा है। इसी शुक्रवार को वे कन्या देखने आयँगे।

विपिन इसी शुक्रवार को ?

श्रीश : यानी परसो ?

रसिक . जी हाँ, परसो। शुकवार को तो सडक पर रोका नही जा सकता।

श्रीश अच्छा मेरे दिमाग मे एक प्लान आया है।

रसिक · कैसा प्लान ?

श्रीश उन लडको को घर मे कोई पहचानता है ?

रसिक · कोई नही।

श्रीश वे लोग घर पहचानते हैं ?

रसिक · नही तो।

श्रीश . तो फिर अगर विपिन उस दिन उन दोनो को किसी तरह अटकाए रह सके तो मैं उनके नाम से नृपवाला को—

विपिन : तुम तो जानते हो भैया, मेरे दिमाग में तो कभी कोई तरकीब आती ही नही। तुम चाहो तो किसी-न-किसी युक्ति से उन लड़को को अटका सकते हो। मैं बल्कि उनके नाम से नीरवाला को—

रसिक . लेकिन जनाब, यहाँ गौरवे बहुवचन तो लागू होगा नही। दो लडको के आने की बात है। आप मे से किसी एक को भी दो की जगह चलाना मेरे लिए मुश्किल होगा।

श्रीश : हाँ, यह तो ठीक है।

विपिन : अरे हाँ, यह तो भूल ही गया था।

श्रीश : तब तो हम दोनो को ही चलना पड़ेगा। लेकिन—

रसिक : उन दोनों को गलत रास्ते भेजने का काम तो मैं ही कर लूंगा। लेकिन आप—

विपिन : हमारी आप चिन्ता न करे, रसिकबाबू।

श्रीश : हम तो हर तरह से तैयार है।

रसिक : आप लोग महान् है—इतना बड़ा त्याग—

श्रीश : आप भी कमाल करते है, इसमे कौन-सा त्याग है।

विपिन : यह तो आनन्द की बात है।

रसिक : नही-नही, फिर भी खतरा तो हो ही सकता है। क्या पता, कही अपने जाल मे खुद ही फँसना पड़ जाय।

श्रीश : बिलकुल नही जनाब, हम किसी खतरे से नही डरते।

विपिन : हमारा जो भी हाल हो, हम उसीमे सुखी रहेगे।

रसिक : यह तो आप लोगो का बड्प्पन है। लेकिन मेरा कर्तव्य है, आपकी रक्षा करना। खैर, मैं आप लोगो को वचन देता हूँ, इस शुक्रवार का दिन आप किसी तरह पार कर दे, उसके बाद फिर कभी आपको तंग नही करूँगा।

श्रीश : फिर कभी तग नही करेगे यह सुनकर हमे दु ख हुआ, रसिकबाबू !

रसिक : अच्छी बात है, तो फिर करूँगा।

विपिन : हमे क्या सिर्फ अपनी स्वाधीनता की ही फिक्र है ! क्या आप हमें इतना स्वार्थी समझते है ?

रसिक : माफ करे, मैंने गलत सोचा था।

श्रीश : आप कुछ भी कहे, चट-से योग्य पात्र मिलना बडा कठिन है।

रसिक : इसीलिए तो इतने दिन तक प्रतीक्षा करते-करते अन्त मे यह आफत आई। विवाह की चर्चा तक आपको अप्रिय लगती है, फिर भी देखिए आप लोगो को भी—

विपिन : इसके लिए आप तनिक भी सकोच न करे—

श्रीश : आप और किसी के पास न जाकर हमारे पास आये इसके लिए हम आपको हृदय से धन्यवाद देते हैं।

रसिक : अब मैं आपको क्या धन्यवाद दूं। वे दोनो कन्याएँ आपका पुरस्कार

के रूप मे आजीवन धन्यवाद देती रहेगी।

विपिन : अरे, पखा खीच।

श्रीश : रसिकबाबू के लिए जलपान मँगवा रहे थे न—

विपिन : बस आया ही समझो। तब तक एक गिलास बर्फ़ का पानी पीजिए—

श्रीश : पानी क्यो लेमनेड मँगा दो न। (जेब से टीन की डिबिया निकालकर) लीजिए रसिकबाबू, पान खाइए !

विपिन : वहाँ हवा लग रही है ? यह तकिया लीजिए न !

श्रीश : अच्छा रसिकबाबू, नृपबाला शायद बहुत उदास हो गई है—

विपिन . नीरबाला भी ज़रूर बहुत ही—

रसिक : बस कुछ न पूछिए—

श्रीश : नृपबाला शायद रो-धो रही है।

विपिन : अच्छा नीरबाला अपनी माँ को ज़रा समझाकर क्यों नही कहती—

रसिक : (स्वगत) उफ, शुरू हो गया। मुझे लेमनेड नही चाहिए। (प्रकट) माफ करे, मगर मुझे तुरन्त जाना है।

श्रीश : यह क्या कह रहे हैं !

विपिन : भला कही ऐसा हो सकता है !

रसिक . उन लड़को को गलत पता देने जाना है, नहीं तो—

श्रीश : समझ गया, तो फिर फौरन जाइए।

विपिन : तो फिर अब देर मत कीजिए।

तीसरा दृश्य

चन्द्रबाबू का घर

(निर्मला खिडकी के नीचे बैठी है। चन्द्रबाबू का प्रवेश)

चन्द्रबाबू · (स्वगत) बेचारी निर्मला ने बडा कठिन व्रत ले लिया है। कई दिन

पर इतना बोझ कैसे सहन कर सकती है ! (प्रकट) निर्मल !

निर्मला : (चौंककर) क्या है मामा ?

चन्द्रबाबू : शायद उसी निबन्ध की बात सोच रही हो। मुझे लगता है, अगर सोच-विचार छोड़कर मन को दो-एक दिन आराम कर लेने दो तो लिखने मे आसानी होगी।

निर्मला : (लज्जित होकर) असल मे मै कुछ सोच नही रही थी मामा। अब तक वह लेख मुझे शुरु कर देना चाहिए था, लेकिन इधर कई दिन से गर्मी के मारे दक्खिनी हवा चलने लगी है, मन किसी तरह लगता ही नही—बडी ज्यादती की बात है, आज जैसे भी हो, मैं--

चन्द्रबाबू . नही-नही, जबरदस्ती करने की कोशिश मत करो। मुझे लगता है निर्मल, घर मे कोई सगिनी नही है, तुम्हे बिलकुल अकेले काम करने की वजह से थकान लगने लगती है। क्योकि जब तक दो-एक जनो का सग और सहयोग न हो तब तक—

निर्मला : अवलाकात बाबू ने कहा था, मेरी थोडी-बहुत सहायता कर देंगे—मैंने उन्हे रोगियो की परिचर्या के बारे मे अग्रेजी की वह किताब दी है, उन्होने कहा था आज एक अध्याय लिखकर भेज देंगे—लगता है आता ही होगा। उसीकी बाट मे बैठी हूँ।

चन्द्रबाबू : बडा भला लडका है वह।

निर्मला : बहुत ही भले—गजब के—

चन्द्रबाबू : ऐसा परिश्रम, कर्म मे ऐसी तत्परता।

निर्मला · और ऐसा सुन्दर विनम्र स्वभाव।

चन्द्रबाबू . अच्छा प्रस्ताव सुनते ही उसका उत्साह देखकर मैं तो आश्चर्य मे डूब जाता हूँ।

निर्मला इसके अलावा, उनको देखते ही उनके अन्तर का माधुर्य उनके चेहरे पर कितना स्पष्ट दिखाई देने लग जाता है।

चन्द्रबाबू · इतने थोड़े समय मे ही किसी के लिए इतना गहरा स्नेह हो सकता है मैं तो कभी सोच भी न पाता—मेरी तो इच्छा होती है, उस लडके को अपने पास रखकर उसकी पढाई-लिखाई और काम-काज मे हर तरह से सहायता करूँ।

निर्मला तव तो मुझे भी वडा लाभ हो, वहुत-से काम कर डालूँ। अच्छा कभी इस तरह का प्रस्ताव कर ही देखो न—यह लो वैयरा आ रहा है। लगता है उन्होने निवन्ध भेजा है। रामदीन, चिट्ठी है क्या ? यही ले आ !

(वैयरे का प्रवेश। चन्द्रवावू के हाथ में चिट्ठी देता है।)

मामा, जरूर उन्होने वह निवन्ध भेजा है मुझे। लाओ, मुझे दो।

चन्द्रवावू नही फेनी, यह तो मेरी चिट्ठी है।

निर्मला तुम्हारी चिट्ठी ! अवलाकान्तवावू ने शायद तुम्हीको लिखी है ? क्या लिखा है ?

चन्द्रवावू नही, यह तो पूर्ण ने लिखी है।

निर्मला पूर्णवावू ने लिखी है ? अच्छा।

चन्द्रवावू लिखा है "गुरुदेव, आपका चरित्र महान् है, आपका मनोवल असाधारण है, आप-जैसा दृढ व्यक्ति ही मनुष्य की दुर्वलता को क्षमा की दृष्टि से देख सकता है। यही सोचकर आज आपको यह चिट्ठी लिखने का साहस कर रहा हूँ।"

निर्मला वात क्या है ! लगता है पूर्णवावू चिरकुमार सभा छोड़ना चाहते है, इसीलिए इतनी भूमिका वाँध रहे है। शायद तुमने ध्यान दिया हो, आजकल पूर्णवावू कुमार-सभा का कोई भी काम नही कर पाते।

चन्द्रवावू : "देव, आपने हम लोगो के सम्मुख जो आदर्श उपस्थित किया है वह अत्यन्त ऊँचा है। हम लोगों के सिर पर आपने जो उद्देश्य लाद दिया है वह वड़ा भारी है—इस आदर्श एव इस उद्देश्य के प्रति मेरी भक्ति तो कभी एक क्षण को भी कम नही हुई पर वीच-वीच मे शक्ति का कमी अनुभव करता हूँ, यह मैं आपके चरणो मे विनयपूर्वक स्वीकार करता हूँ।"

निर्मला . मुझे लगता है, हर वडे काम मे आदमी वीच-वीच मे अपनी असमर्थता का अनुभव करके हताश हो उठता है—लेकिन वरावर थोडे ही रहता है।

चन्द्रवावू . "सभा से लौटकर घर आने पर जव काम मे हाथ लगाने चलता हूँ तो सहसा अपने को अकेला अनुभव करता हूँ। उत्साह मानो

आश्रयहीन लता की भाँति लुठित होकर गिरने लगता है।"
निर्मल, हम लोग भी तो बिलकुल यही बात कर रहे थे।

निर्मला : पूर्णबाबू ने जो लिखा है वह सच है। संगी-साथी के विना केवल सकल्प के बल पर उत्साह बनाए रखना कठिन है।

चन्द्रबाबू : "मेरी धृष्टता क्षमा करे, लेकिन बहुत सोच-विचार करने के बाद मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ, कौमार्य व्रत साधारण जनो के लिए नही है—वह बल देता नहीं, बल हर लेता है। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के दाहिने हाथ है—वे एक होकर ही सम्पूर्ण रूप से सासारिक कार्यो के लिए उपयोगी हो सकते है।" तुम्हारा क्या विचार है निर्मल ? (निर्मला चुप रहती है) अक्षयबाबू भी इसी बात पर उस दिन मेरे साथ तर्क कर रहे थे। उनकी बहुत-सी बातो का मैं उत्तर नहीं दे पाया।

निर्मला : हो सकता है। लगता है, इस बात में काफी सत्य है।

चन्द्रबाबू : "मेरे मत मे गृहस्थ जनो को सन्यास धर्म मे दीक्षित करने की बजाय गृहस्थाश्रम को ऊंचे आदर्श पर गठित करना ही श्रेयस्कर है।"

निर्मला : पूर्णबाबू ने यह तो बढिया बात कही।

चन्द्रबाबू : मैं भी कुछ दिनो से सोच रहा था, कौमार्य व्रत धारण करने का नियम हटा दूंगा।

निर्मला . मुझे भी लगता है, हटा देने मे कोई बुराई नही है। है न मामा ? औरो को तो कोई आपत्ति न होगी ? अवलाकातबाबू, श्रीशबाबू—

चन्द्रबाबू आपत्ति का तो कोई कारण नही।

निर्मला . फिर भी एक बार अबलाकान्तबाबू वगैरह से सलाह कर लेना उचित है।

चन्द्रबाबू · सलाह तो करनी ही होगी।
(पत्र-पाठ) "अभी तक तो जो कुछ लिख रहा था, सरलता से लिख दिया, पर अब जो कुछ कहना चाहता हूँ उसे लिखते कलम ही नही चलती।"

निर्मला : मामा, पूर्णबाबू ने शायद कोई गोपनीय बात लिखी है। तुम जोर-जोर से क्यो पढ रहे हो ?

चन्द्रवाव : ठीक कहती हो, फेनी।

(मन-ही-मन पढते है।)

कितने आश्चर्य की बात है, मैं क्या सचमुच बिलकुल ही अंधा हूँ। मुझे तो आज तक नही सूझा। निर्मल, क्या पूर्णवाबू का कोई व्यवहार तुम्हे कभी—

निर्मला : हाँ, पूर्णवाबू का व्यवहार मुझे कभी-कभी बडा ही भोला लगता रहा है।

चन्द्रवावू : जो हो, पूर्णवावू वहुत वुद्धिमान हैं। तो फिर तुम्हे साफ-साफ ही वता दूँ—पूर्णवावू ने विवाह का प्रस्ताव लिखकर भेजा है—

निर्मला . पर तुम उनके अभिभावक तो हो नही—तुमसे प्रस्ताव—

चन्द्रवावू तुम्हारा अभिभावक तो हूँ—लो पढ देखो।

निर्मला : (पत्र पढकर लाल होकर) यह नही हो सकता।

चन्द्रवावू : मैं उन्हे क्या जवाव दूँ!

निर्मला कह दो, यह किसी तरह नही हो सकता।

चन्द्रवावू · क्यो निर्मल, तुम तो कह रही थी, सभा से कौमार्य व्रत का नियम हटा देने मे तुम्हे कोई आपत्ति नही।

निर्मला तो क्या जो भी प्रस्ताव करे उसी के साथ—

चन्द्रवावू : पूर्णवावू कोई ऐरे-गैरे थोड़े ही है। ऐसा भला लडका—

निर्मला : मामा, तुम इन मामलो मे कुछ नही समझते, तुम्हे समझा भा नही सकूँगी—मुझे काम है।

(जाने लगती है।)

मामा, तुम्हारी जेव कैसे फूली हुई है।

चन्द्रवावू : (चौंककर) अरे हाँ मैं तो भूल ही गया था—बैयरा आज सवेरे तुम्हारे नाम का कागज मुझे दे गया था—

निर्मला (जल्दी से कागज लेकर) देखो तो मामा, कैसी ज्यादती की बात है, अवलाकान्तवावू का लेख सुवह ही आ गया था, तुमने दिया ही नही। और मैं सोच रही थी कि वे शायद भूल ही गए। यह तो वडी ज्यादती है।

चन्द्रवावू . ज्यादती तो जरूर है, लेकिन फेनी, मैं तो रोज ही इससे भी वड़ी-वड़ी ज्यादतियाँ करता हूँ—तुम्ही तो हर वार माफ कर-करके

मुझे सिर पर चढ़ाती रहती हो।

निर्मला : अरे, वह कुछ नही—मैं ही वल्कि अवलाकान्तवावू के प्रति मन-ही-मन ज्यादती कर रही थी, सोच रही थी—अरे रसिकवावू आ रहे हैं। आइए रसिकवावू, मामा यही है।

(रसिक का प्रवेश)

चन्द्रवाव : वाह-वाह, रसिकवावू आए है। सुन्दर हुआ।

रसिक : अगर मेरे आने से ही सुन्दर हो जाता हो चन्द्रवावू, तव तो आपके लिए सुन्दर वहुत सुलभ है। जव कहें तभी आ जाऊँ, विना कहे भी आने को राजी हूँ।

चन्द्रवावू : हम लोग सोच रहे है कि अपनी सभा से चिरकुमार व्रत का नियम हटा दें—आपकी क्या सलाह है ?

रसिक . मैं तो वहुत ही निस्वार्थ भाव से सलाह दे सकता हूँ, क्योकि चाहे आप यह व्रत रखें या हटा दें मेरे लिए दोनो वरावर है। मेरी सलाह यही है कि हटा दीजिए, नही तो किसी दिन वह अपने-आप ही हट जायगा। अपने मोहल्ले का शरावी रामहरि सडक पर आकर सवको सुनाकर कहने लगा . भाइयो, मैंने तय कर लिया है कि यही पर गिर पड़ूँ। तय न करता तो भी वही गिरता, इसलिए तय कर लेना ही उसके लिए अच्छा रहा।

चद्रवावू · ठीक कहा रसिकवावू ! जो चीज़ जवरदस्ती आनी ही है उसे विना जोर-जवरदस्ती के आने देना ही अच्छा है। अगले रविवार के पहले ही मैं सवके सामने यह प्रस्ताव रख देना चाहता हूँ।

रसिक : अच्छी वात है, शुक्रवार की शाम को आप लोग मेरे यहाँ पधारे, मैं सवको खवर भेजकर वुलवा लूँगा।

चद्रवावू : रसिकवावू, अगर आपको समय हो तो अपने देश मे गौ-जाति की उन्नति के सम्वन्ध मे आप एक प्रस्ताव—

रसिक : विपय सुनकर वड़ा कौतूहल हो रहा है, लेकिन शायद मेरे पास इतना समय—

निर्मला नही रसिकवावू, आप उस कमरे मे चलिए, आपके साथ मुझे वहुत-सी वातें करनी हैं। मामा, तुम अपना लेख पूरा करो, हम रहेगे तो विघ्न होगा।

रसिक . तो फिर चलिए।

निर्मला · (जाते-जाते) अवलाकांतवावू ने अपना वह लेख मुझे भेज दिया—उन्हें मेरे अनुरोध का ध्यान रहा इसके लिए आप उन्हें मेरी ओर से धन्यवाद दे दें।

रसिक : धन्यवाद न भी दें तो क्या। वे तो आपका अनुरोध पूरा करके ही कृतार्थ हो गए।

चौथा दृश्य

अक्षय का घर

(जगत्तारिणी, पुरवाला और अक्षय)

जगत्तारिणी : वेटा अक्षय, देखो तो, अव इन लड़कियों का मैं क्या करूँ। नेपो वैठी-वैठी रो रही है, नीर गुस्से से मुँह फुलाए वैठी है, कहती है मैं हरगिज वाहर नही निकलूंगी। भले घर के लडके आते ही होगे, उन्हे अव क्या कहकर लौटाऊँगी। तुम्हीने भैया इन्हे पढ़ा-लिखाकर मेम वना डाला है, अव तुम्ही सँभालो इन्हे।

पुरवाला · सच, उनके ढंग देखकर मैं तो दग रह गई। उन्होने क्या समझा है कि वे—

अक्षय · लगता है मेरे अलावा उन्हें और कोई पसन्द नही आता। तुम्हारी वहनें है न, विलकुल तुम्हारी-जैसी रुचि है।

पुरवाला : मज़ाक छोड़ो, यह मज़ाक का वक्त नही है। तुम उन्हे ज़रा समझाओगे-वुझाओगे या नही, वोलो! तुम्हारे कहे विना वे नही मानेगी।

अक्षय · इतनी भक्त हैं! इसीको कहते हैं भगिनी-पतिव्रता साली। अच्छा एक वार मेरे पास भेज दो, देखूँ—

(जगत्तारिणी और पुरवाला का प्रस्थान)

(नृपवाला और नीरवाला का प्रवेश)

नीरवाला · नही मुखर्जीवावू, यह हरगिज नही हो सकता।

नृपबाला : मुखर्जीबाबू, तुम्हारे पैरो पड़ती हूँ, हमे इस तरह जिस-तिसके सामने मत करो।

अक्षय : फाँसी का हुक्म होने पर एक ने कहा था, मुझे ज्यादा ऊँचे मत चढ़ाना, मुझे चक्कर आ जाते है। तुम्हारा भी यही हाल है। व्याह करने चली हो, अब दर्शन देने मे शरमाओगी तो कैसे काम चलेगा!

नीरबाला : कौन कहता है हम व्याह करने चली हैं।

अक्षय : वाह-वाह, मेरा तो रोम-रोम पुलकित हो उठा—लेकिन हृदय दुर्बल है और भाग्य बलवान, अगर सयोग से प्रतिज्ञा तोड़नी पड़े तो—

नीरबाला : नही, प्रतिज्ञा नही टूटेगी।

अक्षय : नही टूटेगी न? तो फिर बे-खटके चलो; उन दोनो युवकों को दर्शन देकर अधमरा करके छोड़ दो—अभागे अपने घर पहुँचकर मरते रहे।

नीरबाला : बिना बात जीव-हत्या करने का हमे कोई उत्साह नही।

अक्षय : जीवो के प्रति कितनी दया है तुममे! लेकिन ज़रा-सी बात के लिए घर में कलह करने की क्या ज़रूरत है? जब तुम्हारी माँ और जीजी ठान बैठी हैं, और दो भले आदमी गाडी-भाड़ा खर्च करके आ रहे है तब पाँच मिनट के लिए एक बार दर्शन देने मे क्या हर्ज है? फिर तो मै हूँ ही। तुम्हारी अनिच्छा रही तो मैं हर्गिज़ व्याह नही होने दूँगा।

नीरबाला : चाहे जो हो जाय।

अक्षय : हाँ, चाहे जो हो जाय।

(पुरबाला का प्रवेश)

पुरबाला : चलो, तुम्हे सजा दूँ।

नीरबाला : हमे नही सजना।

पुरबाला : भले लोगो के सामने इसी धजा मे जाओगी, शर्म नही लगेगी?

नीरबाला : शर्म क्यो नही लगेगी जीजी—लेकिन सजकर जाने मे तो और भी शर्म लगेगी।

अक्षय : उमा ने तपस्विनी के वेश मे महादेव का मन हरा था; शकुतला ने जब दुष्यंत का हृदय जीता था तब उसकी देह पर बस एक वल्कल था, कालिदास ने लिखा है कि वह भी कुछ तग हो गया था। यही सब पढकर तुम्हारी वहने सयानी हो गई है, सजना नही चाहती।

पुरवाला : ये सब तो सतयुग की बातें हैं। कलियुग के दुष्यंत महाराज साज-सज्जा से ही मोहित होते है।

अक्षय : जैसे—

पुरवाला : जैसे तुम। जब तुम देखने आए थे तब क्या माँ ने मुझे सजाया नही था ?

अक्षय : मैं मन-ही-मन सोच रहा था, जो सज-धजकर भी इतनी जँच रही है उसका सौन्दर्य न जाने कितना शोभावान होगा।

पुरवाला · अच्छा तुम रहने भी दो। नीरू चलो !

नीरवाला : नही जीजी—

पुरवाला : अच्छी बात है शृगार न सही, बाल तो बाँधने होगे।

गीत—३१

अक्षय · अलकों मे फूल मत लगाना, बस ढीली वेणी बाँध लेना। अपने काजल-रहित सजल नयनो से हृदय पर थाप देना। अपने आकुल-अंचल से पथिक के चरणों मे मरण-जाल बिछा देना। मन में जो भी साध हो, बाकी मत रखना, निर्दय नीरव भाव से सब पूरी कर लेना।

पुरवाला . तुमने फिर गीत छेडा। अब मैं क्या-क्या करूँ बोलो, उनके आने का समय हो रहा है—अभी मुझे भोजन तैयार करना बाकी है।

(पुरवाला, नृपवाला और नीरवाला का प्रस्थान)

(रसिक का प्रवेश)

अक्षय : पितामह भीष्म, युद्ध की पूरी तैयारियाँ हो गई ?

रसिक . पूरी। दोनो योद्धा भी आ गए।

अक्षय : बस दोनो दिव्यास्त्र भी सजने गये है। तो फिर तुम सेनापति का भार सँभालो। मैं जरा ओट मे रहना चाहता हूँ।

रसिक : पहले मैं भी ज़रा ओट मे हो जाऊँ।

(रसिक और अक्षय का प्रस्थान)
(श्रीश और विपिन का प्रवेश)

श्रीश : विपिन, तुमने तो आजकल संगीत-विद्या पर हल्ला बोल रखा है—कुछ वसूल हुआ ?

विपिन : कुछ भी नही। सगीत-विद्या के द्वार पर सप्तस्वर निरतर पहरा देते रहते है। वहाँ घुसने की हिम्मत मुझमें कहाँ ! पर तुम्हारे मन मे यह सवाल उठा ही क्यो ?

श्रीश : आजकल रह-रहकर कविता को स्वर मे बाँधने की इच्छा होती है। उस दिन किताब मे पढा था—

गीत—३२ (अ)

क्यों तुम वाल से यों दिन पर
वस, खेला करते हो तट पर
वेला वीती, खेल छोड़कर
कूद पड़ो इस काले जल मे
अतल छान जो मिले उसे ले
हँसते-रोते लौटो घर पर

लगता था जैसे मैं इसकी धुन तो जानता हूँ पर गाने का सामर्थ्य नही है।

विपिन : चीज़ तो अच्छी है रे—तुम्हारा कवि लिखता खूब है। वस आगे कुछ नही है क्या ? शुरू की है तो पूरी करो !

गीत—३२ (आ)

श्रीश :

जाने मन में किस आशा से
जा वैठा है कौन डगर पर
सुमन-गंध से, अलस पवन से
मन को जो करता है उन्मन
चलना हो तो चलो निरंतर
खोजो वह कुसुमित नन्दन-वन

विपिन : वाह-वाह खूब है। लेकिन श्रीश, वहाँ शैल्फ के पास तुम क्या ढूंढ रहे हो ?

श्रीश : उस दिन वह किताब देखी थी न जिसमें दो नाम लिखे थे, वही—

विपिन : नही भाई, आज यह सब नही।

श्रीश : क्या सब नही।

विपिन : उन लोगो के बारे मे किसी तरह का—

श्रीश : कमाल करते हो विपिन ! भला मैं क्या उनके बारे मे कोई ऐसी बात कर सकता हूँ जिससे—

विपिन : नाराज न हो भाई—मैं तो अपनी कह रहा था, इसी कमरे मे बहुत बार मैंने जिस ढग से रसिकबाबू से उनकी चर्चा की है आज उस ढंग की एक भी बात मुँह से निकालते संकोच हो रहा है—समझे न—

श्रीश : समझूँगा क्यो नही। मैं तो बस एक किताब खोलकर देखना चाहता था—बोलता तो एक शब्द भी नही।

विपिन : नही, आज वह भी नही। आज वे हमारे सामने आयेंगी, काश आज हम उनके योग्य बने रह सके।

श्रीश : विपिन,—

विपिन : नही भाई, मुझसे तर्क मत करो, मैं हारा—लेकिन किताब रख दो।

(रसिक का प्रवेश)

रसिक : अरे आप लोग अकेले आये बैठे हैं—बुरा न माने—

श्रीश : तो क्या हुआ ! इस कमरे ने ही हमारा सादर स्वागत कर लिया है।

रसिक : आप लोगो को कितना कष्ट दे डाला !

श्रीश : कष्ट दे ही कहाँ पाए। अगर सचमुच कोई कष्ट कहने लायक कष्ट स्वीकार करने का सुयोग मिलता तो हम कृतार्थ हो जाते।

रसिक : खैर, थोडी देर मे ही सब खत्म हो जायगा, यही संतोष है। उसके बाद आप लोग स्वाधीन हैं। जरा सोचकर तो देखिए, अगर यह सचमुच का मामला होता तो फिर परिणामे बंधनभयं। व्याह नाम की चीज शुरू तो मिठाई से ही होती है, लेकिन हमेशा मधुरेण

समाप्त नही होती। अच्छा, आज आप लोग इस तरह उदास, चुपचाप क्यो बैठे है ? मैं कह रहा हूँ न, डरने की कोई बात नही। आप तो वन के पक्षी है, दो-चार सदेश[1] खाकर फिर वन मे उड जायँगे, आपको कोई नही बाँधेगा। "नात्र व्याधशरा. पतन्ति परितो, नैवात्र दावानल."—दावानल की जगह नारियल का पानी मिलेगा।

श्रीश : हमे इस बात का दु.ख नही है रसिकबाबू, हम तो सोच रहे थे कि हम ऐसा कौन बड़ा भारी उपकार कर रहे है। भविष्य की सारी आशका तो दूर कर नही पायँगे।

रसिक : कमाल है। आप जो कुछ कर रहे हैं उसीसे आप इन दोनो अबलाओ को चिरकृतज्ञतापाश मे बाँधे ले रहे है—अथच स्वय किसी भी पाश मे नही बँध रहे है।

जगत्तारिणी : (नेपथ्य में धीमे से) उफ नेपो, क्या बचपना कर रही है। जल्दी से आँसू पोछकर कमरे मे जा। बड़ी रानी बेटी है हमारी—रोकर आँखे लाल कर लोगी तो कैसी धजा हो जायगी जरा सोच तो—नीर, जा न। तेरे मारे तो नाक मे दम है भाई। भले लोगो को कब तक बैठाए रहोगी ? वे क्या सोचेगे ?

श्रीश : सुन रहे है रसिकबाबू, अब नही सहा जाता। इससे तो राजपूतो की कन्या-हत्या ही अच्छी।

विपिन : रसिकबाबू, इस सकट से इनकी पूरी रक्षा करने के लिए आप जो कहे हम वही करने को तैयार है।

रसिक · कोई जरूरत नहीं, आप लोगो को और अधिक कष्ट नही दूँगा। बस आज का दिन पार कर दे, फिर आपको और कोई फिक्र करने की जरूरत नही।

श्रीश : फिक्र करने की जरूरत नही ? क्या कहते है रसिकबाबू। हम लोग क्या पत्थर है ? आजसे हमे विशेष रूप से इनकी फिक्र करने का अधिकार होगा।

विपिन ऐसी घटना के बाद भी अगर हम इनके बारे में उदासीन रहे तो हम कायर है।

---

१. एक प्रकार की बँगला मिठाई।

श्रीश : आज से इनकी फिक्र करना हमारे लिए गर्व की बात होगी—गौरव की बात होगी।

रसिक : अच्छा बात है, तो फिक्र कीजिएगा, लेकिन मेरा खयाल है, फिक्र करने के अलावा और कोई कष्ट आपको नही करना होगा।

श्रीश : अच्छा रसिकबाबू, हम लोगो को कष्ट स्वीकार करने देने मे आपको इतनी आपत्ति क्यो है ?

विपिन · अगर इन लोगो के लिए हमे कोई कष्ट करना पडे तो हम उसे अपना सम्मान समझेंगे।

श्रीश : रसिकबाबू, आप दो दिन से लगातार हमे भरोसा दिए जा रहे है कि ज्यादा कष्ट नही करना होगा, इससे हमें सचमुच दु:ख होता है।

रसिक मुझे माफ करे—ऐसी नासमझी की बात अब कभी नही करूंगा। आप लोग कष्ट स्वीकार करे।

श्रीश : आपने क्या हमे अब भी नही पहचाना ?

रसिक · पहचाना क्यो नही ! इस बारे मे आप निश्चिन्त रहे।

(कुण्ठित नृपबाला और नीरबाला का प्रवेश)

श्रीश : (नमस्कार करके) रसिकबाबू, इनसे कहिए हमे माफ कर दें।

विपिन अगर हम भूल से भी इनकी लज्जा या भय का कारण हो तो हमारे लिए इससे ज्यादा दु ख की बात और कोई नही हो सकती। इसलिए अगर ये क्षमा नही करेंगी तो—

रसिक . कमाल है। क्षमा माँगकर अपराधिनियो का अपराध और न बढाएँ। ये अभी बच्ची है, आदरणीय अतिथियो से किस प्रकार सभाषण करना चाहिए, इसे भूलकर अगर ये अचानक सिर झुकाए खड़ी रह जायँ तो आप इसे अपने प्रति बेरुखी समझकर इन्हे लज्जित न करें। क्यो नृप जीजी, नीर जीजी, क्या कहती हो ? हालाँकि अभी तुम्हारी पलके नही सूखी है फिर भी क्या मै इनसे कह सकता हूँ कि इनके प्रति तुम्हारा मन विमुख नही है।

(नृप और नीर लज्जा से निरुत्तर रह जाती है)

उँ-हूं, ज़रा ओट मे जाकर पूछना पड़ेगा, (अलग से) इन भले आदमियो को अब क्या कहूँ, बोलो ! कह दूं कि जितनी जल्दी हो

सके यहाँ से विदा हो जाओ !

नीरबाला : (धीमे से) क्या बकते हो रसिकबाबा, कुछ ठिकाना है! हम क्या यह कह रही है ? हमें क्या पता था कि ये आए है !

रसिक . (श्रीश और विपिन से) ये कह रही है—

गीत—३३

सखे, यह कर्मलेख का शाप—
चन्द्रकिरण को देख डरी मै, समझ सूर्य का ताप।

इस पर आपको और कुछ कहना है ?

नीरबाला (अलग से) है है रसिकबाबा, क्या कहते हो कुछ ठिकाना है ! हमने यह कब कहा ?

रसिक : (श्रीश और विपिन से) इनका मनोभाव मे ठीक-ठीक प्रकट नही कर पाया इसलिए ये मुझे भला-बुरा कह रही है। ये कहना चाहती है कि चन्द्र-किरण की उपमा से भी बात नही बनी—अगर उससे भी अधिक कुछ—

नीरबाला : (अलग से) अगर तुम ऐसे करोगे तो हम चली जायँगी।

रसिक सखि, न युक्तं अकृतसत्कारं अतिथिविशेषउज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम्। (श्रीश और विपिन से) ये कह रही है, अगर मैं इनके मन की सच्ची बात आपके सामने प्रकट करूँ तो ये लज्जा के मारे यहाँ से चली जायँगी।

(नीरबाला और नृपबाला जाने लगती है)

श्रीश : रसिकबाबू के अपराध मे आप हम निर्दोषों को सजा क्यों देती हैं। हमने तो कोई प्रगल्भता नही की।

(नृपबाला और नीरबाला तय नही कर पातीं कि जाये या रहे)

विपिन : (नीर की ओर देखकर) अगर हमसे कभी कोई अपराध हुआ हो तो क्या क्षमा-प्रार्थना का भी अवसर नही देगी।

रसिक : (अलग से) इसी क्षमा-प्रार्थना के लिए बेचारा न जाने कितने दिन से मौके की बाट देख रहा है।

नीरबाला : (अलग से) अपराध हुआ ही क्या है, जो क्षमा करें !

रसिक : (विपिन से) ये कह रही हैं, आपका अपराध इतना मनोहर है कि उसे

इन्होने अपराध माना ही नही—हाँ अगर मैं उस कापी को ले भागने का साहस करता तो ज़रूर अपराध होता—कानून की विशेष धारा मे ऐसा ही लिखा है।

विपिन : ईर्ष्या न करें रसिकबाबू ! आपको तो हमेशा ही अपराध करने का मौक़ा मिलता रहता है, और आप उसकी सजा भोगकर कृतार्थ भी होते रहते हैं, मुझे बड़े भाग्य से अपराध करने का एक अवसर मिला था—लेकिन मैं इतना अभागा हूँ कि न तो दंडनीय ही माना गया, और न क्षमा पाने की योग्यता हो पा सका।

रसिक : इतने निराश न हो विपिनबाबू ! कभी-कभी सजा बहुत देर मे आती है लेकिन आती अवश्य है। हो सकता है आसानी से मुक्ति न भी मिले।

(नौकर का प्रवेश)

नौकर : जलपान तैयार है।

(नृपबाला और नीरबाला का प्रस्थान)

श्रीश : हम लोग क्या किसी अकाल-क्षेत्र से आ रहे है ? जलपान की ऐसी क्या जल्दी है ?

रसिक : मधुरेण समापयेत्।

श्रीश : (आह भरकर) पर समाप्ति तो मधुर नही है। (अलग से, विपिन से) लेकिन विपिन, हम इन्हे ठुकराकर कैसे जा सकते हैं !

विपिन : (अलग से) अगर हम ऐसा करे तो समझो पाखंडी हैं।

श्रीश : (अलग से) अब हमें क्या करना चाहिए ?

विपिन : (अलग से) यह भी भला पूछने की बात है !

रसिक : देखता हूँ, आप लोग डर गए हैं। कोई आशका नहीं, चाहे जो हो मैं आखिर में आप लोगो का उद्धार जरूर करूँगा।

(श्रीश और विपिन भोजन करने लगते हैं)

(कमरे मे दूसरी तरफ अक्षय और जगत्तारिणी का प्रवेश)

जगत्तारिणी : देख लिया न बेटा, कैसे सुन्दर लड़के हैं।

अक्षय : तुम्हारा पसन्द बढ़िया है, यह बात मैं अस्वीकार नही कर सकता माँ।

जगत्तारिणी : लड़कियों का रंग-ढग देखा बेटा, अब न जाने रोना-धोना कहाँ

चला गया।

अक्षय : यही तो उनमे दोष है। लेकिन माँ, लड़को को देखकर आशीर्वाद देने तुम्हे खुद चलना पड़ेगा।

जगत्तारिणी : यह क्या उचित होगा अक्षय ? क्या उन्होने अपनी पसन्द बता दी है ?

अक्षय : अच्छी तरह बता दी है। बस अब तुम खुद चलकर आशीर्वाद दे दो तो चटपट सब तय हो जाय।

जगत्तारिणी : अच्छी बात है, तुम कहते हो तो चलती हूँ। मैं तो उनकी माँ के समान हूँ, मुझे काहे की लज्जा !

(पुरबाला का प्रवेश)

जगत्तारिणी : अब तुझसे क्या कहूँ पुरो, लड़के तो बिलकुल चाँद के टुकड़े है।

पुरबाला : मैं तो पहले ही जानती थी। नीर-नृप के भाग्य में क्या बुरे लड़के हो सकते है ?

अक्षय : बड़ी जीजी के भाग्य का प्रभाव है, और क्या !

पुरबाला : अच्छा रहने भी दो। जाओ, जरा उनके साथ कुछ बातचीत करो। पर, शैल कहाँ गई ?

अक्षय : वह खुश होकर किवाड बन्द करके पूजा कर रही है। (श्रीश और विपिन के पास आकर) बात क्या है ? रसिकबाबा, देखता हूँ, आजकल तो खब खिला-पिला रहे हो। और जिसे रोज सुबह-शाम देखते हो उसीको भूल गए।

रसिक : इनका चाव अभी नया है। पत्तल पर जो आ जाय उसीमें प्रसन्न हैं। तुम्हारा चाव पुराना पड गया है, तुम्हे फिर नये सिरे से खुश करने का दम मुझमे नही है भाई !

अक्षय : लेकिन मैने तो सुना था कि आज की सारी मिठाई और इस घर का सारा अनास्वादित मधु समेटकर ले जाने के लिए दो अपरिचित युवको का अभ्युदय होगा—ये लोग क्या उन्हीका हिस्सा बँटा रहे है। ए रसिकबाबा, गलती तो नही कर बैठे ?

रसिक : मैं तो गलती के लिए ही मशहूर हूँ। बडी माँ जानती है, उनका बूढा रसिककाका जिस काम मे हाथ डालेगा वही लत हो जायगा।

अक्षय : क्या कह रहे हो रसिकबाबा ? यह तुमने क्या कर डाला ? उन लडको को कहाँ भेज दिया ?

रसिक : भूल से मैं उन्हे गलत पता दे बैठा ।

अक्षय : न जाने बेचारो की क्या हालत होगी !

रसिक : कोई खास नुकसान नही होगा । अब तक उन्होने कुमारटोली के नीलमाधव चौधरी के घर जलपान भी समाप्त कर लिया होगा । वनमाली भट्टाचार्य ने उन लोगो की देख-भाल का भार ले लिया होगा ।

अक्षय सो तो समझ गया । सभीकी पत्तल मे मिठाई आ गई । लेकिन तुम्हारा जलपान कुछ कडवा होगा । अब भी समय है, भूल सुधार लो । श्रीशबाबू, विपिनबाबू, आप बुरा न मानें, इसमे एक पारिवारिक रहस्य है ।

श्रीश : भोले-भाले रसिकबाबू ने वह रहस्य हमे पहले ही बता दिया है । ये हमे यहाँ चकमा देकर नही लाये ।

विपिन : मिठाई के थाल पर हमने अनधिकार धावा नही बोला है । हम अन्त तक इसका प्रमाण देने के लिए तैयार है ।

अक्षय : क्या कह रहे हो विपिनबाबू, तो क्या चिरकुमार सभा को सदा के लिए रुलाकर आए है ? जान-बूझकर, स्वेच्छा से ?

रसिक : अरे नही, तुम भूल कर रहे हो अक्षय !

अक्षय : फिर भूल ? आज क्या सभी के भूल करने का दिन है ?

गीत—३४

भूलो से भरा आज का दिन भूलमय हो जाय । भूल की लता पर बातास की भूल से फूल खिल उठें । भूल के सागर से उठकर आनन्द की लहर कूल पर छा जाय ।

रसिक : अरे, यह तो बडी माँ आ रही है ।

अक्षय : आने की तो बात ही है । वे तो कुमारटोली के पते पर जायँगी नही ।

(जगत्तारिणी का प्रवेश । श्रीश और विपिन भूमिष्ठ होकर प्रणाम करते हैं । दोनों को एक-एक मुहर देकर जगत्तारिणी आशीर्वाद देती हैं । फिर एक

ओर ले जाकर अक्षय से बातचीत करती है।)

अक्षय : माँ कहती हैं, तुम लोगो ने आज कुछ ठीक से नही खाया, सब पत्तल में पड़ा रह गया।

श्रीश : हमने तो दो दो बार माँगकर खाया है।

विपिन : पत्तल पर जो पड़ा है वह तो तीसरी किश्त है।

श्रीश : अगर वह न पडा रहता तो फिर हमीको पड़े रहना पड़ता।

जगत्तारिणी : (अलग से) तो फिर तुम बैठकर इनके साथ बातचीत करो बेटा, मैं चलती हूँ।

रसिक : नही-नही, यह बड़ी ज्यादती है।

अक्षय : कैसी ज्यादती ?

रसिक : मैं इनसे बराबर कहता चला आया हूँ कि बस आज भोजन करते ही इन्हे छुट्टी मिल जायगी, किसी बधन की कोई आशका नही। लेकिन—

श्रीश : इसमे लेकिन की क्या बात है रसिकबाबू, आप इतने चिंतित क्यो हो रहे है ?

रसिक : क्या कहते हैं श्रीशबाबू ! मैंने जब आप लोगो को वचन दिया है तो—

विपिन : तो ठीक है, ऐसी कौन आफत मे डाल दिया है !

श्रीश : माँ हमे जो आशीर्वाद दे गई हैं, भगवान् करे हम उसके योग्य बनें।

रसिक : नही-नही, श्रीशबाबू, यह बेकार की बात है। आप लोग धर्म-सकट मे पड़कर संकोच के मारे—

विपिन : रसिकबाबू, हमारे साथ अन्याय न करें—धर्म-सकट मे पड़कर—

रसिक : धर्म-सकट नही तो और क्या है जनाब, यह नही हो सकता। मैं बल्कि अभी कुमारटोली जाकर बनमाली के हाथ से उन लड़को को छुडा लाऊँगा, पर—

श्रीश : हमने आपका क्या बिगाड़ा है, रसिकबाबू ?

रसिक : नही-नही, इसमें बिगाड़ने की क्या बात है ? आप लोग सज्जन हैं, आपने कौमार्य-व्रत धारण किया है—मेरे अनुरोध मे फँसकर परोपकार करते-करते कही अन्त में —

विपिन · अत मे हम अपना उपकार न कर बैठें ? इतनी-सी बात भी आप नही सह सकते—आप अच्छे मित्र है हमारे।

श्रीश हम जिसे सौभाग्य मानकर स्वीकार कर रहे है—आप हमे उससे वचित करने की चेष्टा क्यो कर रहे है ?

रसिक वाद मे मुझे दोष न दीजिएगा !

विपिन · अगर आप शात होकर शुभ कार्य मे सहायता न करेंगे तो जरूर दोष देगे।

रसिक . मैं अब भी आपको सावधान करता हूँ—

गतं तद्गाम्भीर्यम् तटमपि चितं जालिकशतैः
सखे हंसोत्तिष्ठ, त्वरितममुतो गच्छ सरसः।
कहाँ गया गाम्भीर्य, निहारो नदी कूल पर
मछुए जाल डालते हैं वे घोर
मित्र हंस उठ पड़ो, समय रहते ही तुम अब
और चल पड़ो मानसरोवर ओर

श्रीश : हर्गिज़ नही। आप सस्कृत के श्लोक फेककर क्यो न मारे, सखा हस यहाँ से नही हिलेगे।

रसिक . जगह सचमुच खराब है। हिलने-डुलने की कोई गुजाइश नही। मैं तो अचल होकर बैठा हुआ हूँ—उफ—

अयि कुरंगि तपोवनविभ्रमात्
उपगतासि किरातपुरीमिमाम्।

(नौकर का प्रवेश)

नौकर : चन्द्रबाबू आए है।

अक्षय : यही लिवा ला !

(नौकर का प्रस्थान)

रसिक · इन चोरो को सीधे दारोगा के हाथ सौप दिया जाय।

(चन्द्रबाबू का प्रवेश)

चन्द्रबाबू . अरे आप लोग आए हुए है। अच्छा पूर्णबाबू भी है।

अक्षय . जी नही, मैं पूर्ण नही हूँ, हाँ अक्षय ज़रूर हूँ।

चन्द्रबाबू : अक्षयबाबू ! चलो अच्छा हुआ, आपकी भी ज़रूरत थी।

अक्षय मेरे जैसे गैरज़रूरी आदमी को जिस जरूरत मे लगाये उसीमे

लगने को तैयार हूं,—कहिए, क्या सेवा है ?

चन्द्रबाबू : मैंने सोचकर देखा है, जब तक हम अपनी सभा से कुमार-व्रत का नियम नही हटायंगे तब तक सभा बडी संकुचित रहेगी। श्रीश-बाबू और विपिनबाबू को यह बात ज़रा अच्छी तरह समझा दीजिए।

अक्षय : बड़ा कठिन काम है, क्या मालूम मुझसे होगा भी कि नही।

चन्द्रबाबू : किसी दिन किसी मत को अच्छा मानकर ग्रहण किया था, यही सोचकर उसके त्याग की क्षमता छोड़ बैठना उचित नही। मत की अपेक्षा विवेक-शक्ति ही बड़ी है। श्रीशबाबू, विपिनबाबू—

श्रीश : हम लोगो से ज्यादा कहने की जरूरत नही—

चन्द्रबाबू : क्यो, जरूरत क्यो नही ? आप लोग क्या तर्क भी नही सुनना चाहते ?

विपिन : हम तो आपके ही मत के है।

चन्द्रबाबू : मेरा मत कभी भ्रांत था यह मानता हूँ। आप लोग अब भी उसी मत के हैं ?

रसिक : अरे, पूर्णबाबू आ रहे है। आइए, आइए !

(पूर्ण का प्रवेश)

चन्द्रबाबू : पूर्णबाबू, तुम्हारे प्रस्ताव के अनुसार अपनी सभा से कुमार-व्रत हटा देने के लिए ही आज हम यहाँ इकट्ठे हुए हैं। लेकिन श्रीशबाबू और विपिनबाबू ने बड़ी कड़ी प्रतिज्ञा कर रखी है, अगर उन्हे समझा सको तो बस—

रसिक : उन्हे समझाने मे मैंने कोई कसर नही रखी, चद्रबाबू—

चन्द्रबाबू : आप-जैसे बातून को भी अगर सफलता नही मिली तो फिर—

रसिक : जो सफलता मिली है—वह तो फलेन परिचीयते।

चद्रबाबू : क्या कह रहे है, ठीक समझ नही पाया।

अक्षय : अरे रसिकबाबा, चद्रबाबू को साफ-साफ समझा देना जरूरी है। मैं अभी दोनो प्रत्यक्ष प्रमाण लाकर उपस्थित करता हूँ।

श्रीश : पूर्णबाबू, अच्छे तो हैं ?

पूर्ण : हां !

विपिन : आप कुछ सूखे-से क्यो दिख रहे हैं ?

पूर्ण : नही तो।

श्रीश आपकी परीक्षा मे तो अब देर नही है।

पूर्ण : नही।

(नृपबाला और नीरबाला को लेकर अक्षय का प्रवेश)

अक्षय . (नृपबाला और नीरबाला से) ये है चंद्रबाबू, ये तुम्हारे पूज्य है, इन्हे प्रणाम करो !

(नृप और नीर प्रणाम करती है)

चद्रबाबू, नए नियम के अनुसार आपकी सभा मे ये दो सदस्य और बढ गए।

चन्द्रबाबू : बडी खुशी हुई। कौन हैं ये ?

अक्षय · मेरे साथ इनका सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है। ये मेरी सालियाँ है। शुभ लग्न मे श्रीशबाबू और विपिनबाबू के साथ इनका सम्बन्ध और भी ज्यादा घनिष्ठ हो जायगा। इन पर दृष्टि डालते ही आप समझ जायँगे कि रसिकबाबू ने इन युवको का जो मत-परिवर्तन कराया है वह केवल वाक्-शक्ति द्वारा नही।

चन्द्रबाबू : बड़े आनन्द की बात है।

पूर्णबाबू : श्रीशबाबू, मुझे बड़ी खुशी है। विपिनबाबू, आप लोगो का बड़ा सौभाग्य है। आशा करता हूँ अवलाकातबाबू भी वचित नही रहे होगे, उनका भी कोई—

(निर्मला का प्रवेश)

चन्द्रबाबू : निर्मला, तुम्हे सुनकर खुशी होगी, श्रीशबाबू और विपिनबाबू के साथ इनका व्याह तय हो गया है। तो फिर अब तो कुमार-व्रत हटा देने के बारे मे प्रस्ताव रखना ही बेकार है।

निर्मला लेकिन अभी अवलाकातबाबू की राय तो ली ही नही गई— वे तो यहाँ दिखाई नही पड़ते—

चन्द्रबाबू · सही है। मै तो भूल ही गया था। वे आज अभी तक क्यो नही आए ?

रसिक . कोई चिन्ता न करे, उनका परिवर्तन देखकर आपको और भी आश्चर्य होगा।

अक्षय : चन्द्रबाबू, इस बार मुझे भी अपने दल मे ले लीजिए। आपकी

सभा इतनी लोभनीय हो गई है कि अब आप मुझे नही रोक सकेंगे ।

चन्द्रवाबू : आपको पाना तो हमारा सौभाग्य है ।

अक्षय : मेरे साथ ही आपको एक सदस्य और मिलेगा । आज की सभा मे उन्हे किसी भी तरह उपस्थित नही कर सका । इस समय वे अपने-आपको सुलभ नही करेंगी—वासरघर मे भूतपूर्व कुमार-सभा को यथासाध्य पिंडदान करने के वाद शायद दर्शन दें । अव वाकी सदस्य आते ही हमारी चिरकुमार सभा पूरी तौर से समाप्त हो जायगी ।

(शैलवाला का प्रवेश)

शैलवाला : (चंद्रवावू को प्रणाम करके) मुझे क्षमा करें ।

श्रीश : अरे यह क्या, अवलाकांतवावू—

अक्षय : आप लोगों ने तो मत-परिवर्तन कर डाला, इन्होने तो सिर्फ वेश-परिवर्तन किया है ।

रसिक : भवानी पार्वती अव तक विराट् वेश धारण किये हुई थी । आज इन्होने फिर तपस्विनी का वेश ग्रहण किया है ।

चन्द्रवावू : निर्मला, मेरी समझ में तो कुछ नही आ रहा है ।

निर्मला : अन्याय । भीषण अन्याय । अवलाकांतवावू—

अक्षय : निर्मलादेवी ठीक कह रही हैं । सचमुच अन्याय है । लेकिन यह विधाता का अन्याय है । इन्हें तो अवलाकांत ही होना चाहिए था, पर भगवान् ने इन्हे विधवा शैलवाला वनाकर न जाने कौन-सा मंगल साधा है ?

शैलवाला : (निर्मला से) मैंने सचमुच अन्याय किया है, मुझसे भला उसका क्या प्रतिकार हो सकता है ? आशा करती हूँ, धीरे-धीरे सब सुधर जायगा ।

पूर्ण : (निर्मला के पास आकर) इसी वीच मैं आपसे क्षमा माँग लूँ । चन्द्र-वावू को मैंने जो पत्र लिखा था उसमें मैंने जो कामना प्रकट की थी, वह मेरे तईं अन्याय की वात थी—मुझ-जैसे अयोग्य—

चन्द्रवावू : कोई अन्याय नही पूर्णवावू, अगर निर्मलाजी आपकी योग्यता न समझ सके तो इसे उनके विवेक का अभाव ही समझिए !

(निर्मला सिर झुकाकर चुपचाप चली जाती है)

रसिक : (अलग ले जाकर, पूर्ण से) कोई डर नहीं पूर्णबाबू, आपकी अर्जी मंजूर हो गई—प्रजापति की अदालत में डिग्री मिल गई है—कल सवेरे ही जारी करने निकल पड़िएगा।

श्रीश : (शैलबाला से) आपने बड़ा धोखा दिया।

विपिन : रिश्ता होने के पहले ही मजाक कर लिया।

शैलबाला : लेकिन यह न समझिए कि बाद में छुटकारा मिल जायगा।

विपिन : हम छुटकारा चाहते ही नहीं।

रसिक : तो अब नाटक खत्म हुआ—बस यहीं पर भरत-वाक्य बोल दिया जाय—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु।



परिशिष्ट

इस नाटक के मूल बँगला-गीत

गीत—१

की जानि की भेवेछ मने
खुले वलो ललने।
की कथा हाय भेसे याय,
ऐ छलछल नयने।

गीत—२

पाछे चेये वसे आमार मन,
आमि ताइ भये भये थाकि,
पाछे चोखे चोखे पड़े बाँधा,
आमि ताइ तो तुलिने आँखि।

गीत—३

वड़ो थाकि काछाकाछि
ताइ भये भये आछि।
नयन वचन कोथाय कखन वाजिले वाँचि ना वाँचि।

गीत—४ (अ)

ना वले याय पाछे से
आँखि मोर घुम ना जाने।

गीत—४ (आ)

काछे तार रइ तबुओ
कथा ये रय परानें।

गीत—४ (इ)

ये - पथिक पथेर भुले
एल मोर प्राणेर कूले,
पाछे तार भुल भेङे याय
चले याय कोन् उजाने।
आँखि मोर घुमना जाने।

गीत—४ (ई)

एल येइ एल आमार आगल टुटे
खोला द्वार दिये आवार यावे छुटे।
खेयालेर हाओया लेगे ये खेपा ओठे जेगे
से कि आर सेइ अवेलाय मिनतिर वाधा माने।
आँखि मोर घुम ना जाने।

गीत—५

ना ना गो ना
क'रो ना भावना,
यदि वा निशि याय याव ना याव ना।
यखनि चले याइ
आसिव बले याइ,
आलो-छाया पथे करि आना गोना।
दोलाते दोले मन मिलने विरहे।
वारे वारेइ जानि तुमि तो चिर हे।
क्षणिक आड़ाले
वारेक दाँड़ाले
मरि भये भये पाव कि पाव ना।

गीत—६

देखव के तोर काछे आसे—
तुइ रबे एकेश्वरी, एकला आमि रइव पाशे।

गीत—७

तुमि आमाय करवे मस्त लोक—
देवे लिखे राजार टिके, प्रसन्न ऐ चोख।

गीत—८

अभय दाओ तो वलि आमार wish की,—
एकटि छटाक सोडार जले पाकि तिन पोया हुइस्कि।

गीत—९ (अ)

कतकाल रबे वलो भारत रे,
शुधु डाल भात जल पथ्य करे।

गीत—९ (आ)

देशे अन्नजलेर हल घोर अनटन,
घरो हुइस्कि सोडा आर मुर्गिमटन।

गीत—९ (इ)

याओ ठाकुर चैतन चुटकि निया—
एसो दाड़ि नाड़ि कलिमद्दि मिञा।

गीत—१०

आमि केवल फुल जोगाव
तोमार दुटि राङा हाते,
बुद्धि आमार खेले नाको
पाहारा वा मंत्रणाते।

गीत—११

चिर-पुरानो चाँद ।
चिर दिवस एमनि थेको आमार एइ साध ।
पुरानो हासि पुरानो सुधा, मिटाय मम पुरानो क्षुधा
नूतन कोनो चकोर येन पाय ना परसाद ।

गीत—१२

पोड़ा मने शुधु पोड़ा मुखखानि जागे रे,
एत आछे लोक, तबु पोड़ा चोखे
आर केह नाहि लागे रे ।

गीत—१३

यारे मरणदशाय धरे
से ये शतवार करे मरे ।
पोड़ा पतङ्ग यत पोड़े, तत
आगुने झाँपिये पड़े ।

गीत—१४

सकलि भुलेछे भोला मन
भोलेनि भोलेनि क्षुधु ए चन्द्रानन ।

गीत—१५

स्वर्गे तोमाय निये यावे उड़िये,
पिछे-पिछे आमि चलव खुँड़िये,
इच्छा हवे टिकिर डगा धरे
विष्णु दूतेर माथाटा दिइ गुँड़िये ।

गीत—१६

कार हाते ये धरा देव प्राण

(ताइ) भावते बेला अवसान।
डान दिकेते ताकाइ यखन, बाँयेर लागि काँदे रे मन।
बाँयेर लागि फिरले तखन दक्षिणेते पड़े टान।

गीत—१७

विरह-यामिनी केमने यापिबे
विच्छेद-तापे यखन तापिबे,
एपाश ओपाश विछाना मापिबे,
मकरकेतने केवलि शापिबे—

गीत—१८

तुमि जानो आमार गाछे फल केन ना फले—
येमनि फुलटि फुटे ओठे आनि चरणतले।

गीत—१९ (अ)

जययात्राय याओ गो, ओठो ओठो जयरथे तव।
मोरा जयमाला गेंथे आशा चेये बसे रव।
आँचल बिछाय राखि, पथ-धुलो दिव ढाकि
फिरे एले हे विजयी हृदये वरिया लव।

गीत—१९ (आ)

आनियो हासिर रेखा सजल आँखिर कोणे—
नव वसन्त शोभा ए गो ए शून्यवने।
सोनार प्रदीप ज्वालो, आँधार घरेर आलो,
पराओ रातेर भाले चाँदेर तिलक नव।

गीत—२०

ओगो तोरा के याबि पारे।
आमि तरी निये बसे आछि नदी किनारे।

ओपारेते उपवने कत खेला कत जने,
एपारेते घु घु मरु वारि विना रे।
एइवेला वेला आछे, आय के यावि।
मिछे केन काटे काल कत की भावि।
सूर्य पाटे यावे नेमे, सुवातास यावे थेमे,
खेया वन्ध हये यावे सन्ध्या-आँधारे।

गीत—२१

येते दाओ गेल यारा
तुमि येयो ना येयो ना—
आमार वादलेर गान हयनि सारा।
कुटिरे कुटिरे वन्ध द्वार
निभृत रजनी अन्धकार,
वनेर अञ्चल कापे चञ्चल
अधीर समीर तन्द्राहारा।

गीत—२२

ओगो दयामयी चोर। एत आछे दया मने तोर।
वड़ो दया करे कण्ठे आमार जड़ाओ मायार डोर।
वड़ो दया करे चुरि करे लओ शून्य हृदय मोर।

गीत—२३

चलेछे छुटिया पलातका हिया
वेगे वहे शिरा धमनी,
हाय हाय हाय धरिबारे ताय
पिछे-पिछे धाय रमणी।
वायुवेग भरे उड़े चञ्चल,
लटट वेणी दुले अंचल
ए की रङ्ग, आकुल अङ्ग
छुटे कुरङ्गगमनी।

गीत—२४ (अ)

ओ आमार ध्यानेरि धन।
तोमाय हृदये दोलाय ये हासि रोदन।
आसे वसन्त फोटे वकुल,
कुञ्जे पूर्णिमा चाँद हेसे आकुल,
तारा तोमाय खुँजे ना पाय
प्राणेर माझे आछ गोपन स्वपन।

गीत—२४ (आ)

आँखिरे फाँ कि दाओ एकी धारा
अश्रुजले तारे कर सारा।
गन्ध आसे केन देखिने माला,
पायेर ध्वनि शुनि, पथ निराला,
वेला ये याय, फुल ये शुकाय
अनाथ हये आछे आमार भुवन।

गीत—२५

ज्वलेनि आलो अन्धकारे
दाओ ना साड़ा कि ताइ बारे बारे।
तोमार बांशि आमार बाजे बुके।
कठिन दुखे, गभीर सुखे,
ये जाने ना पथ, काँदाओ तारे।
चेये रइ रातेर आकाश पाने,
मन ये की चाय ता मनइ जाने।
आशा जागे केन अकारणे
आमार मने क्षणे क्षणे
व्यथार टाने तोमाय आनबे द्वारे।

गीत—२६

निशि ना पोहाते जीवनप्रदीप
ज्वालाइया याओ प्रिया,
तोमार अनल दिया।
कबे याबे तुमि समुखेर पथे
दीप्ति शिखाटि बाहि
आछि ताइ पथ चाहि।
पुड़िबे बलिया रयेछे आशाय
आमार नीरव हिया
आपन आँधार निया।
निशि ना पोहाते जीवनप्रदीप
ज्वालाइया याओ प्रिया।

गीत—२७

ओरे सावधानी पथिक वारेक
पथ भुले मर फिरे।
खोला आँखि दुटे अन्ध करे दे
आकुल आँखिर नीरे।
से भोला पथेर प्रान्ते रयेछे
हारानो हियार कुञ्ज;
झरे पड़े आछे काँटा तरुतले
रक्त कुसुम पुञ्ज;
सेथा दुइबेला भाङा-गड़ा खेला
अकूल सिन्धुतीरे।
ओरे सावधानी पथिक, वारेक
पथ भुले मर फिरे।

गीत—२८

तरी आमार हठात् डुबे याय
कोन् पाथारे कोन् पाषाणेर घाय।

नवीन तरी नतुन चले,
दिइनि पाड़ि अगाध जले,
वाहि तारे खेलार छले किनार-किनाराय।
तरी आमार हठात् डुबे याथ।
भेसेछिल स्रोतेर भरे
एका छिलाम कर्ण धरे
लेगेछिल पालेर 'परे मधुर मृदु वाय।
सुखे छिलेम आपन मने
मेघ छिल ना गगनकोणे
लागवे तरी कुसुमवने, छिलेम से आशाय।
तरी आमार हठात् डुबे याय।

गीत—२९

विरहे मरिव बले छिल पण।
के तोरा बाहुते बाँधि करिलि वारण।
भेवेछिनु अश्रुजले, डुबिव अकूल-तले
काहार सोनार तरी करिल तारण।

गीत—३०

तोमाय चेये आछि वसे पथेर धारे सुन्दर हे।
जमल धुला प्राणेर वीणार तारे तारे, सुन्दर हे।
नाइ ये कुसुम, माला गाँथव किसे कान्नारि गान वीणाय एनेछि से,
दूर हते ताइ शुनते पावे अन्धकारे, सुन्दर हे।
दिनेर परे दिन केटे याय, सुन्दर हे।
मरे हृदय कोन् पिपासाय, सुन्दर हे।
शून्य घाटे आमि की ये करि, रङिन पाले कवे आसवे तरी।
पाड़ि देव कवे सुधारसेर पारावारे, सुन्दर हे!

गीत—३१

अलके कुसुम ना दियो,
शुधु, शिथिल कबरी बाँधियो।
काजल विहीन सजल नयने
हृदय दुयारे घा दियो।
आकुल आँचले पथिक चरणे
मरणेर फाँद फाँदियो।
ना करिया वाद मने याहा साध
निदया नीरवे साधियो।

गीत—३२ (अ)

केन सारादिन धीरे-धीरे
बालु निये शुधु खेल तीरे।
चले गेल वेला, मिछे रेखे खेला
झाँप दिये पड़ो कालो नीरे।
अकूल छानिये या पास ता निये
हँसे केंदे चलो घरे फिरे।

गीत—३२ (आ)

नाहि जानि मने की वासिया
पथे बसे आछे के आसिया।
ये फुलेर बासे अलस वातासे
हृदय दितेछे उदासिया,
येते हय यदि चलो निरवधि
सेइ फुलबन तलाशिया।

गीत—३३

सखा, की मोर करमे लेखि—
तापन वलिया तपने डरिनु,

चाँदेर किरण देखि।

गीत—३४

भुले भुले आज भुलमय।
भुलेर लताय वातासेर भुले
फुले फुले होक फुलमय।
आनन्द ढेउ भुलेर सागरे
उछलिया होक कूलमय।